मुद्रकः पं. दामोदरदास द्विवेदी द्वारा
श्री मध्य-भारत हिन्दी-साहित्य-समिति प्रेस, इन्दौर में मुद्रित.

लेखक की ओर से

"कवि न होउँ नहिं चतुर कहाऊँ। मति अनुरूप राम गुन गाऊँ॥

मैं विद्वान्, आलोचक, कवि, कहानीकार, स्नातक आदि नहीं। लेखक आप मुझे महज इसीलिये मान सकते हैं क्योंकि मैं कुछ शब्दों को गूँथ लेता हूँ। हिंदी नाट्य-चिंतन का यह प्रथम भाग सेवा मे प्रस्तुत है। यह ग्रन्थ नही। मैं ग्रन्थकार नहीं। यह तो एक विशिष्ट विषय पर लिखे हुए निबन्धों का संग्रह है। बहुत पहिले से इस विषय पर लिखना चाहता था। लगभग चार वर्ष पूर्व स्थानीय मध्यभारत-हिंदी-साहित्य-समिति में उत्तमादि कक्षाओं के लिये व्याख्यानों की व्यवस्था मे मैंने भी इस विषय पर समिति और छात्रों की सेवा करना उचित समझा। कुछ लिख चुका था, कुछ और लिखा। जहाँ इससे मेरा कुछ लाभ हुआ वहाँ शैली में व्याख्यानात्मक ढंग भी रंग आया। बहुत प्रयत्न करने पर भी इसे समस्त रचना मे से निकालना मेरे लिये दुष्कर हो गया। प्रस्तुत रचना इसी रूप मे आपके समक्ष है।

इसमे कला सम्बन्धी उद्धृतांश कवीन्द्र-रवीन्द्र एवं निकोलस रोरिक के हैं। अन्य स्थानों पर उन ग्रन्थों एव लेखकों के जिनका प्रसंग आया है। भारतेन्दु बाबू मे, बाबू श्यामसुन्दरदास ने जो 'भारतेन्दु नाटकावली' में विचार प्रकट किये है, उनकी समीक्षा है।

उदयशंकर भट्ट पर विषय पूर्णता की दृष्टि से मुझे लिखना चाहिये था। उन्होंने नाटक लिखे है और उनमे अभिनय-योग्यता भी है इसलिये वे नाट्यकार तो अवश्य हैं किन्तु उनके नाटकों मे उनकी विशेषता एवं चिंतन मुझे नहीं मिला। मैंने वार-वार यह चेष्टा की कि उन पर कुछ लिखूँ किंतु उनमे मेरी वृत्तिएँ रमी नहीं; क्योंकि प्रस्तुत रचना से मेरा उद्देश्य केवल हिंदी के नाट्यकारों के चिंतन का अन्वेषण एव उनकी अन्तर्मुखी विचार-धाराओं का विवेचन ही है।

सम्मति, ग्रन्थ, अर्थ आदि की सहायता के लिये मैं श्रद्धेय श्री प्रो० कमलाशंकरजी मिश्र, एम्० ए०, मध्यभारत के प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता श्री मिश्रीलालजी गंगवाल, श्रीमान् सेठ गुलाव-चन्दजी टोंग्या, श्रीमान् भैया साहेव देवकुमारसिंहजी एम्० ए०, श्री पं० नाथूलालजी बज, शास्त्री, श्री गुलावचन्दजी जैन एवं वीर सार्वजनिक वाचनालय, इन्दौर का अत्यन्त आभारी हूँ।

हिंदी साहित्य के पत्र-पत्रिकाओं एव ग्रन्थों का भी मैं चिर ऋणी हूँ जिनके शिलाधारों पर चढ कर मै अपना मानसिक विकास कर सका, अपने अध्ययन के बिखरे कण हिंदी माता और साहित्य के चरणों मे चढ़ा सका। मेरी अल्पज्ञता, प्रूफ-सशोधन मे शीघ्रता एव असावधानी के कारण जो त्रुटिएँ रह गई है उन के लिये मै क्षमा-प्रार्थी हूँ।

लेखक

पुनश्च

'प्रसाद' पर मैने पृथक 'हिंदी-नाट्य-चिंतन' दूसरे भाग मे, जो 'प्रसाद का नाट्य-चिंतन' के नाम से प्रकाशित हुआ है, विशद रूप से प्रकाश डाला है।

लेखक

सौंदर्य-कला

एवं

साहित्य की रूप-रेखाएँ

कला और सौंदर्य

आन्तरिक सौंदर्य का वाह्य रूप कला है। सौंदर्य आत्मा और कला उसका आवरण है। इसीलिये कला दैवी, आत्मिक अथवा आध्यात्मिक नहीं। वह अपने शुद्ध, सात्विक एवं सच्चे रूप में अस्वाभाविक है। मानवी है। मानव मस्तिष्क की सुन्दरतम उपज, अद्वितीय कृति है। इसीलिये कला पर मानव को नाज़ है। उसे नाज़ करना चाहिये। विज्ञान और कला में भाई-बहन का-सा सम्बन्ध है। नवाविष्कार विज्ञान की देन हैं। नव-साहित्य, नवीन आकर्षणमय जीवन कला की भेंट। विज्ञान भौतिकता की ओर अग्रसर करता है। कला मानव सहानुभूति की अपेक्षा करती है। विज्ञान असीमित, अस्पष्ट का विश्लेषण करता है और कला हृदय की सुन्दरतम अभिव्यक्तियों का निदर्शन। विज्ञान शक्ति का परिचय देता है और कला अनुभूति का। विज्ञान पुरुषत्व समन्वित है। कला आन्तरिक कोमलता लिये हुए है। विज्ञान कठोर है। उसका एक भाग पाशविक है। कला नारीत्व की द्योतिका है। कोमल है। सस्पंदन है। मृदु है। मधुर है। क्रियमान है। उसका एक भाग गहन शृंगारिक, भावनावलित

और कुप्रवृत्त तथा विकृत भी रहता अथवा हो जाता है। विज्ञान का क्षेत्र व्यापक, कला का सीमित है। विज्ञान ब्रह्माण्ड के अणु अणु तक के विश्लेषण और उपयोग की श्रेष्ठता पर निर्भर है। कला केवल रंग-रूप, शब्द-नाद, आकार-प्रकार के द्वारा ही अपनी अभिव्यक्ति करती है।

कला और सौंदर्य को पृथक्-पृथक् देखना अथवा उनके अस्तित्व की कल्पना करना सम्भव नहीं। जिस प्रकार हम शरीर से आत्मा को अलग कर उस पर पृथक् विचार नहीं कर सकते उसी प्रकार कला और सौंदर्य पर भी विचार या विवेचन अलग-अलग नहीं किया जा सकता। आत्मिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति शरीर की स्थिति से ही हम मानवों को हुआ करती है। उसी प्रकार पाठकों, रसिकों एवं प्रेक्षकों आदि में भी सौंदर्य की, रस की अनुभूति कला के माध्यम द्वारा ही हुआ करती है। इसीलिये कला सौंदर्य का वाह्य रूप है जिसके आश्रय से हम सौंदर्य के निकट पहुँच सकते है।

"सौंदर्य या कला हमें इसीलिये प्रिय होती है क्योंकि वह हमारे जीवन-सगीत का साहचर्य्य प्राप्त कर लेती है।" शरीर और आत्मा की सम्मिलित स्थिति से ही हम जीवन का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार सौंदर्य का साहचर्य्य जीवन से जब होता है तब हमें कला की स्थिति का, अस्तित्व का, जीवन का ज्ञान होता है। कला और सौंदर्य मिल कर कलात्मकता अथवा जीवन का स्फुरण शब्दों, रूपों में किया करते हैं। कला जहाँ केवल अपनी ओर ही लक्ष्य रखती है वहाँ वह वाह्य, अस्थायी और एकांगीपन लिये हुए रहती है किंतु सौंदर्य और फिर जीवन से संपृक्त हो वह आन्तरिक, स्थायी और सर्वाङ्गपूर्ण हो उठती है। तब ही वह स्वयं में सीमित होती हुई भी मानव-हित, विश्व-कल्याण करती है; ठीक एक ऋषि के समान जो स्वात्म-कल्याण में रत रहता हुआ भी परोक्षरूप से मानव-हित, विश्व-कल्याण किया करता है। उस

ऋषि का चिंतन अपने मानव का पथ-प्रदर्शन कर कल्याण की ओर अग्रसर करता रहता है यद्यपि वह अपने चिंतन का वितरण करने नहीं जाता। उस चिंतन में गम्भीरता, गहनता, श्रेष्ठता आदि के अनुसार आकर्षण, चुम्बकत्व पैदा हो जाता है जो मानव को, प्राणियों को बर-बस अपनी ओर खींच लेता है। कला में भी जीवन की, मानविक गहन-तम अनुभूतियों के अन्तर्हित होने पर इसी प्रकार का आकर्षण, चुम्ब-कत्व प्राप्त हो जाता है जो कला-रसिकों को तो आकर्षित करता ही है, जीवन को लोक को आकर्षित कर लेता है। 'राम-चरित मानस', 'गोदान', 'कामायनी' आदि ऐसी कृतियें तो हैं ही जो कला-रसिकों, भावुक हृदयों को, अनुभूति-संपोषकों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं किंतु उनमें वह गहनता, आकर्षण भी है जिससे साधारण जन-समु-दाय भी लोक या जीवन भी उनसे अप्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। इसी को हम कला में जीवन का समन्वय, साहचर्य मानते हैं। कला में इसीलिये जैसे-जैसे जीवन व्यापक होकर बसने लगता है, तैसे-तैसे वह उच्च, स्थायी होने लगती है। यौवनांकुर के प्रारंभ से विकास और प्रौढ़ता तक जैसे आकर्षण बढ़ता जाता है और मातृत्व में उसका निखरा, उज्ज्वल रूप, सुन्दरतम अवसान हो जाता है वैसे ही कला में जीवन की मानविक अनुभूतियों की गहनता एवं विशदता के प्राप्त होने पर उसमें, कला में, अपने स्वयं की एक आध्यात्मिकता, भव्यता, अलौ-किता आती जाती है और उसका अवसान मानव-विश्व-कल्याण में अथवा परमानन्द में होता है। परमानन्द से मेरा आशय उस अलौकिक आनंद से है जहाँ विश्व का विस्तार सिमिट कर एक हो रहता है। द्वयता मिट जाती है।

हृदय सरस अनुभूतियों, सहानुभूतियों, प्रेम, भावना, भावुकता, कोमलता, सहृदयता, उदारता आदि का निवासस्थल है। मस्तिष्क

ज्ञान-विज्ञान, तर्क-वितर्क, विद्वत्ता, प्रतिभा, विचार-विश्लेषण आदि की क्रीड़ास्थली है। इसीलिये कला की उत्पत्ति जब हृदय से होती है तब उसमें नारी-उचित, हृदयोचित सब गुणों का स्वभावतः ही प्रादुर्भाव हो जाता है किंतु जब उसका उद्गम हृदय से न होकर केवल मस्तिष्क से ही होता है तब उसमें मस्तिष्कोचित प्रतिक्रियाओं की प्रतिक्रियाएँ दृष्टव्य होती हैं। जहाँ तक हृदय का कला में प्राधान्य रहता है तहाँ तक कलात्मक हृदय-प्रधान कृतियों एवं उनका मूल रूप समान रहता है। उनमें एक समरसता, एक प्रभाव, एक धारा रहती है और इसी स्थल पर विश्व की समस्त अमर कृतियों में एक रस, एक समान भाव, एक अनुभूति, एक स्वभावज भावना, एक मूल रहता है। कला का संपर्क हृदय से हट कर जैसे-जैसे मस्तिष्क की ओर बढ़ने लगता है तैसे-तैसे विभिन्न स्कूलों विचारधाराओं की सृष्टि, विकास, विवेचन और विश्लेषण होता है। तब कला आदर्शता-अनादर्शता, सोद्देश्यता-निरुद्देश्यता के विवेचन के कूलों के मध्य से सीमित-सी हो बहने लगती है। आगे इसी मानसिक विकास के साथ. वृद्धि के साथ बहुमुखी हो 'कला कला के लिये', 'कला जीवन के लिये', 'मनोरञ्जन के लिये', 'आत्माप्रकटीकरण के लिये 'साहित्य-सृजन', 'पथ-प्रदर्शन' के लिये, 'सेवा के लिये' आदि कला विभिन्न धाराओं में विकास, विवेचन एवं विश्लेषण की दृष्टि से बँट जाती है। वास्तव में कला का मूल रूप एक ही होने से इन सब विचार-धाराओं के मूल में भी एक ही सत्य, एक ही उद्देश्य, एक ही आत्मा निवास करती है। किसी भी कलाकार का मूलरूप, आत्मा तो केवल 'स्वांतः सुखाय' (Art for art's sake) ही लिखा करती है, सृजन करती रहती है। कलाकारों की जैसे आत्मा समान रहती है वैसे ही उस आत्मा की आत्मजा कला भी एक ही रहती है। मूल भावना एक ही रहती है। उसे ही हम 'स्वान्तः सुखाय' अथवा आत्म-तुष्टि कहते हैं। इसी प्रकाश-मडल की विकीर्णित किरणों को हम साहित्य में

विभिन्न नामों से पुकारते है, किंतु जब हृदय का मस्तिष्क के साथ, मनोवैज्ञानिकता के साथ, सूक्ष्मपर्यवेक्षण शक्ति के साथ, जीवन के साथ संपर्क हो जाता है तब ही कला का भव्य रूप हमें देखने को मिलता है। उसमें सौंदर्य की सृष्टि हो जाती है। कला में जब हृदय का रस निचुड़कर आत्मा के सत्य से मिलता है तब वह शिवरूप हो मानव-विश्व-कल्याण करती है। कल्याण फिर चाहे परोक्ष हो अथवा प्रत्यक्ष।

कई शताब्दियों के विवेचन के पश्चात् भी आज कला के स्वरूप का निर्धारण नही हुआ है और न सौंदर्य-भावना का यथार्थ निरूपण। वास्तव में कला के संबध मे कलाकार के मस्तिष्क में एक सूक्ष्म अगोचर भावना और सौंदर्य के सबंध में उसकी अपनी निजी कसौटी रहती है। इन्हीं के आधार पर कलाकृतियों के सृजन में वह सलग्न रहता है। उसी की धारणाओं और भावनाओं के अनुसार कला संबंधी विभिन्न तत्वों की सृष्टि होती रहती है और फिर समालोचकों के द्वारा उनका विवेचन, विश्लेषण और वर्गीकरण होता है। सौंदर्य की भावना में देश, काल, युग, व्यक्तित्व आदि के कारण वाह्यतः भेद दिखाई देता है। वास्तव में यह बात वाह्य सौंदर्य के संबंध में घटित होती है। आन्तरिक सौंदर्य में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आता, जैसे सत्य सदा से सत्य बना आया है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि सत्य ही एक महत्तम सौंदर्य है। जब सत्य विकृत होता है तब सौंदर्य भी विकृत हुए बिना नहीं रहता। सत्याश्रय में ही कल्याण निहित है। इसीलिये 'शिव' सत्य के सहयोग से सौंदर्यमय हो उठता है। सौंदर्य नारी के समान आकर्षण करता है। सत्य पुरुष के समान शक्ति प्रदान करता है। तब 'शिव' के सृजन द्वारा विश्व का कल्याण होता है। "जो 'शिव' है, कल्याणप्रद है वही सुन्दर है" के समान जो सत्य है वही शिव है, कल्याणप्रद है यह कहा जा सकता है।

सत्य को संसार में हम कम देखकर कभी-कभी भयभीत और असत्पथगामी हो जाते हैं। भ्रम में पड जाते हैं। किंतु सत्य ही विश्व को जीवन देता है। सत्य पर ही हमारी सारी क्रियाएँ और व्यापार निर्भर रहते हैं। विश्व से यदि सत्य क्षण-मात्र के लिये भी विलग हो जाय तो सारा ब्रह्माण्ड चकनाचूर हो जाय। नष्ट-भ्रष्ट हो जाय। प्रलय हो जाय। हम जानते हैं वातावरण में ऑक्सीजन कितने कम प्रमाण में और नाइट्रोजन कितने अधिक प्रमाण में रहता है किंतु ऑक्सीजन से ही हमें प्राण मिलते हैं, हम जीवित रहते हैं। उस थोड़े ऑक्सीजन भाग में भी इतना तेज, इतनी शक्ति रहती है कि वह उस अधिक हानिकारक, प्राण-नाशक भाग पर भी अपना आधिपत्य रख प्राणियों को जीवन दान देता रहता है। इसी प्रकार सत्य का अल्पांश भी अप्रतिम शक्ति का केंद्र रहता है। कलाकार की कला में यही सत्य शक्ति को सृजन करता, उसे अमरत्व प्रदान करता, विश्व-कणों में बिखराता है। इस सत्य से रहित होकर कला जीवित नहीं रह सकती। उसमें स्पंदन, उसके स्पदन में सतत प्रवाह नहीं रहता।

इस सत्य ही का प्रयोग जब ईमानदारी और निस्वार्थ भाव से लेखक अपनी कला में करता है तब उसे हम सौंदर्य कह सकते हैं (यहाँ हमें यह ध्यान रहे कि साधारण जीविकोपार्जन तो नग्न आवश्यकता है; स्वार्थ नहीं)। सौंदर्य सत्यमय अथवा सत्य सृजित होने पर अलौकिक आकर्षण का जनक हो जाता है। तब हम कह सकते हैं कि निराकार अलक्षित रूप में सहज बोधगम्य नहीं हो पाता। साधारण मानव के लिये उसका स्वरूप पहेली-सा बन जाता है यद्यपि उसकी शक्तियों के प्रभाव का अनुभव उसे होता अवश्य है। इसी को हम 'निर्गुण' से 'सगुण' की ओर आना कह सकते हैं। जब तक सत्य-ब्रह्म, निर्गुण, निराकार, अगोचर रहता है तब तक वह मानव को विस्मयाभिभूत

तो अवश्य करता है किंतु उसमें वह आकर्षण प्राप्त नहीं होता है जिससे क्षण-क्षण और पद-पद पर फिसलनेवाला यह मानव सतत उसकी आराधना में लगा रहे। इसलिए शुद्ध सत्य को सौंदर्य मय बनाकर ही "शिव" के प्राप्ति की चेष्टा हम कर सकते हैं। कलाकार यही करता है। उसे यही करना चाहिये। कैसे करे यह प्रश्न दूसरा है। इसका उत्तर उसकी प्रतिभा, अनुभुति एवं अनुभव और उसकी कला में इनका व्यक्तीकरण दे सकता है। सत्याश्रित यह सौंदर्य—आकर्षण—न केवल प्रभावोत्पादक ही होता है किंतु स्थायी और अमिट भी होता है। नारी-आकर्षण जैसे संतत सृष्टि-सृजन की परंपरा का पोषण करता रहता है वैसे ही सौंदर्याकर्षण निरंतर सृष्टि को विश्व-कल्याण की ओर प्रेरित करता रहता है।

वास्तव में सौंदर्य और कला का विवेचन उपनिषदों के 'नेति' 'नेति' के समान है। वर्गीकरण के द्वारा उसका कुछ आभास अवश्य मिल जाता है।

कला एवं सौंदर्य के निरूपण के पश्चात् नाट्य-कला की उत्पत्ति एवं विकास, उसका आंतरिक एवं बाह्य निरीक्षण, उसके मूल तत्वों एवं भावनाओं का विवेचन आता है। हम मानविक अंतः प्रवृत्तियों के आधार पर नाट्यकला की दृष्टि से विचार कर सकते हैं।

सब कहीं, सब देशों एवं सब कालों में मनुष्यों में दो अंत प्रवृत्तिएँ अत्यंत प्रबल रहा करती हैं, संसार के आद्यकाल से किसी न किसी रूप में ये चली आ रही हैं और भविष्य में भी चली जायँगी। ये हैं एक तो नृत्य एवं गीत की तथा दूसरी दूसरों, बड़ों, महत्पुरुषों, महाशक्तियों एवं अलौकिक प्रतिभा अथवा शक्ति-सम्पन्न व्यक्तियों के अनुकरण करने की। छोटे-छोटे बालकों में तो ये प्रवृत्तिएँ विशेष रूप से लक्षित होती ही हैं। इसी प्रकार असभ्य मनुष्यों तक में भी आद्यकाल से अब तक नाचने-गाने की प्रथा और अनुकरण का भाव चला आ

मानविक अंत प्रवृत्तिएँ

रहा है। ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्य होता गया इनका विकास ही होता गया यद्यपि कभी-कभी युद्धादि अथवा किसी अन्य आपत्ति के समय इनका वेग कुछ कम अवश्य हो गया। मानव-हृदय की ये प्रवृत्तिएँ ही नाटक या रूपक की जन्मदात्री हैं। नाटक या रूपक शब्द ही उक्त कथन की पुष्टि के लिये सच्चे साक्षी हैं। नाटक शब्द नट् धातु से निकला है जिसका अर्थ नाचना, नृत्त करना होता है। इसी प्रकार रूपक शब्द से यह सूचित होता है कि इसमें किसी का अनुकरण या नकल करने की चेष्टा की गई है। अभिनय के समय जब अभिनय कर्त्ता किसी का रूप धारण कर उसी के गुणों एवं कार्यों का अनुकरण करते या वैसे ही हाव-भाव दिखाते हैं तो उसे रूपक कहते हैं।

मानविक मूल प्रवृत्तियों, प्राचीन भारतीय साहित्य एवं आधुनिक पाश्चात्य नाट्य-साहित्य के अध्ययन और अनुशीलन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब तक नृत्य गायन को प्रवृत्ति रहती है तब तक अभिनय की एक अस्पष्ट भावना तो रहती ही है किंतु वह प्रायः एक सामाजिक या जातीय प्रथा मात्र ही रहती है और जो प्रथा कि आज भी मूल रूप में बनी हुई है यद्यपि वाह्यतः उसमें कितना ही अन्तर पड़ गया है। नृत्य-गायन को इस मूल प्रवृत्ति के कारण ही प्राचीन एवं शास्त्रानुमोदित रचनाओं में नृत्य-गायन भी एक नाटकीय तत्व मान लिया गया है। इस प्रवृत्ति के नाटकीय माने जाने का एक कारण और भी है। वह है मनुष्य की मनोरंजनी वृत्ति जिसके कारण भी इसका समावेश नाटकीय रचनाओं में आवश्यक-सा मान लिया गया था। आज भी इसका उपयोग तो होता है किंतु नाटकीय मूल तत्वों में इसका कोई विशेष मूल्य नहीं। विशेषकर नाटकीय कथा वस्तु के स्फुरण, विकास एवं चित्रण में इसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं यद्यपि पात्रों के चरित्रों के अनुसार इसका उपयोग होता रहता है।

नृत्य-गायन की प्रवृत्ति जब अभिनय का रूप धारण करती है तब नाट्य रचनाओं को साहित्यिक रूप प्राप्त होने लगता, उनमें स्थायित्व आने लगता, उनमें नाट्य-कला एवं तत्संबंधी शास्त्रीय नियमों की उद्भावना और विवेचन होने लगता है। यहीं से हमें नाट्य साहित्य की प्रारंभिक रूप-रेखाएँ देखने को मिलने लगती हैं।

मनोरंजनी वृत्ति एवं मनोरंजन-प्रधान रचनाएँ

अभिनय के लिए अनुकरण की अनिवार्य आवश्यकता होती है। हुई है। नृत्य-गायन की प्रथा तो इसीलिये नाट्य-कला को कभी छूती हुई और कभी उससे विलग होती हुई दिखाई देती है किंतु अनुकरण सदा बना रहता है। यह अनुकरण बालकों के समान प्रथम तो कोरा निरुद्देश्य अनुकरण ही रहता है जिसमें मूल प्रवृत्ति तो रहती है, मनोरंजनी वृत्ति भी स्वभावतः उसमें आ मिलती है। प्राथमिक रचनाएँ इसीलिये मनोरंजन-प्रधान होती हैं और अपना इष्ट-साधन-मनोरंजन कर क्षणिक प्रभावोत्पादक होतीं और धीरे-धीरे समयानुसार लुप्त और सृजित होती रहती हैं। इस प्रकार की अनेकों मनोरंजन-प्रधान रचनाओं का सृजन मनुष्य एवं सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्थाओं में अवश्य हुआ होगा किंतु समय के साथ वे लुप्त हो गईं किंतु उनकी हास्योत्पादकता, विनोदात्मकता एवं व्यंग्यात्मकता अब तक अन्य विकसित रचनाओं के साथ मिलती चली आ रही हैं। पहिले ये कथा-वस्तु का अङ्ग न होकर पृथक् प्रयुक्त होती थीं किंतु आजकल इनका कथा-वस्तु का अंग होना ही समीचीन माना जाता है।

समय एवं मानव सभ्यता के विकास के साथ मनोरंजनी वृत्ति कुछ कम होने लगी और उसके स्थान पर पूर्वजों एवं वीर पुरुषों के सम्मान का भाव आने लगा। मालूम होता है इस समय तक मानव निवास-स्थान बनाकर रहने, संपत्ति का अधिपति होने, जातीय भाव का पोषण तथा युद्धा-

शिक्षा एवं कला-प्रधान रचनाएँ

दिक कार्यों में संलग्न रहने लगा था। इसीलिए अब अनुकरण में अनुकरण तो था ही शिक्षा की भी प्रधानता होने लगी थी और फलतः शिक्षा-प्रधान रचनाओं का सृजन। बालकों के समान ही इन प्रवृत्तियों का विकास हुआ है। जैसे बालकों में पहिले स्वभावतः ही कतिपय चेष्टाएँ रहती है और फिर धीरे-धीरे कोरे, निरुद्देश्य अनुकरण और शिक्षा-ग्रहण, तर्क, ज्ञान विज्ञान, अवलोकन, चित्रण, भाव-प्रकाशन एवं उच्च शिक्षा के साथ विद्वता का उसमें उद्भव होता जाता है वैसे ही नाट्य-कला का भी विकास हुआ है। इसमें भी, इसकी मूल भित्ति भी अनुकरण पर ही अवलंबित है। इसीलिये जब मानव ने सभ्यता में और आगे कदम बढ़ाया, उसमें ज्ञान, विज्ञान, तर्क, विचार, ईश्वर और आत्मा तथा धर्म संबधी सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ तब उसने इस कला में शिक्षा के साथ उपदेश, ज्ञान और ईश्वर तथा धर्म संबंधी सिद्धान्तों को भी ठूँसने की चेष्टा की। परिणाम यह हुआ कि शिक्षा और उपदेश से मानव के अंतःकरण में निवास करनेवाली स्वभाव-जात कला को विरक्ति-सी होने लगी। शुद्ध कलाने अपने दरबे से सिर निकाल कर अपना परिचय स्वयं देना प्रारंभ कर दिया। कला अपने निर्मल, शुद्ध रूप में प्रकट हुई। शिक्षा और उपदेश प्रधान रचनाओं का स्थान कला-प्रधान रचनाएँ ग्रहण करने लगी। कला जब अपने इस पवित्र रूप में प्रकट होती है तब महान् कलाकारों का जन्म होता है। स्थायी अमर रचनाएँ विश्व को मिलती हैं। मानव-मस्तिष्क, उसकी विचारस्थली के स्तर ऊँचे उठते हैं। यह काल बड़ा भव्य, अलौकिक और कला एवं साहित्य की दृष्टि से स्वर्ण-युग होता है। वाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी, प्रेमचंद, प्रसाद, शेक्सपीयर, इब्सन, शॉ, गाल्जवर्दी, गोर्की आदि ऐसे ही युग में उत्पन्न होते और अपने युग तथा भविष्य का अपनी कृतियों से निर्माण करते हैं। इनके युग में मनोरंजन और शिक्षा-उपदेशात्मक वृत्तिएँ

आश्रय तो पाती हैं किंतु गौण रूप से अपंग और निस्सहाय होकर।

कला-प्रधान रचनाओं के सृजन से कला एवं कला संबंधी विविध विचार-धाराओं पर विचार और विवेचन प्रारंभ होता है तथा रचनाओं के आंतरिक विश्लेषण द्वारा श्रेणी-विभाग अपना सिर उठा लेता है। कभी-कभी इसका दुष्परिणाम भी निकलता है। कला का अंग-भंग कर उसे नग्न रूप में देखने की मानवानुभूति, मानव-हृदय, मानव संवेदनाओं से पृथक् कर उसे देखने की प्रथा चल पड़ती है। परिणाम यह होता है कि कला की आत्मा झुलसाई हुई, गिरी हुई, त्याज्य होकर एक ओर पड़ी रह जाती है और आलोचक उसके वाह्य रूप को ही उसका सर्वस्व समझ ग्रहण कर उससे मनमानी करने लगता है। अब कलात्मकता का ह्रास और विद्वता का प्राबल्य-आतंक साहित्य में रँग आते हैं। विद्वता, विवेचन, सिद्धान्त, विश्लेषण, वर्गीकरण कला पर कभी-कभी इतने भारी हो जाते हैं कि वह इनका भार सम्हाल नहीं सकती। वह विकृत हो जाती है। फलतः पुनः हीन कोटि की रचनाओं की सृष्टि होने लगती है। साहित्य के ह्रास और पतन का काल शुरू होता है।

विद्वता-प्रधान रचनाएँ

ये वाह्य आलोचक, विभिन्नता देखने वाले विश्लेषक, जब कला को एकांगी दृष्टिकोण से देखते हैं तब वे कला में सेवा, मनोरंजन, आनंद साधारण जन समुदाय अथवा मजदूर वर्ग का हित, आत्मानुभूति, साहित्य-सृजन, जीवन आदि की पृथक्-पृथक् उद्भावना कर कला का वर्गीकरण करते हैं। तब वे जैसे कला का, जीवन का भी वर्गीकरण कर देते हैं। जैसे मानव एक है जीवन एक है वैसे ही उनकी प्रतिबिंब, प्रतिनिधि, प्रतिच्छाया, प्रतिरूप कला भी एक ही है। इनमें से किसी

कला का वर्गीकरण और कलाकार

एक की विशेषता अथवा प्राधान्य देखकर वर्गीकरण जब किया जाता है तब कलाकार की तो कोई विशेष हानि नहीं होती किंतु उसके विभिन्न अनुकरण-कर्त्ताओं की श्रेणियें अवश्य बन जाती हैं। विवाद का विषय बनतीं और एकांगी दृष्टि-कोणों का प्रचार करती हैं। गुत्थियें तो सुलझने के स्थान पर और उलझती जाती हैं। वास्तव में कलाकारों में कोई एक मूल प्रवृत्ति रहती है जो कतिपय बाह्य प्रभावों से प्रभावित हो, अपनी कल्पना से रंगाती हुई, कला-कृतियों के सृजन में संलग्न हो जाती है। उदाहरण के लिये हम विभिन्न व्यक्तियों पर विचार करें तो हमें ज्ञात होता है उनमें विभिन्न स्वादों के प्रति विशेष रुचि रहती है। जैसे किसी को मीठा, किसी को खट्टा अथवा किसी को चरपरा आदि स्वाद विशेषतः रुचिकर होते हैं। कभी-कभी व्यक्ति के स्वादों में परिवर्तनों का होना संभव रहता है किंतु झुकाव विशिष्टि ओर ही रहता है। इसी प्रकार कलाकार की कला में भी एक विशिष्ट झुकाव होता है। वह उससे विलग नहीं किया जा सकता। सृजन में उसका उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति भी अवश्य रहता है। सेवा या मनोरंजन का, हिताहित का कोई ख्याल उसके मस्तिष्क में नहीं रहता। वह तो उसमें जो अव्यक्त है, छिपा पड़ा है, उसके मानस में दबा है उसे व्यक्त करता, प्रकट करता, बाह्य बनाता, रंगरूप, आकार-प्रकार देता है। अपना आंतरिक आनंद, शोक आदि तो वह बाँटना, बिखराना चाहता है। उसका आत्मप्रकटीकरण तब ही भौंडा होता है जब वह अपनी आत्मा का भार ऊबकर, घबराकर जैसे तैसे उतार फेकना चाहता है। वास्तव में उसके सच्चे प्रकटीकरण में जीवन होता है क्योंकि कलाकार भी तो एक समूचे जीवन की ही उत्पत्ति है। उसकी रचनाओं से आनंद की प्राप्ति होती है क्योंकि वह काव्यानंद का स्रोत जो उसके अंदर रहता है वह बिना किसी बंधन के मुक्त हृदय से विश्व

को बाँट देता है। उसकी रचनाओं में रसता, सरसता रहती है क्योंकि बिना इनके वह कलाकार ही नहीं हो सकता। उसकी रचनाओं से मानव-कल्याण, विश्व-हित-सेवा होती है क्योंकि निस्वार्थ भाव से जो वह हमें देता है उसमें निस्वार्थता, मुक्त-हृदयता के कारण सत्य से परे कोई चीज रह ही नहीं सकती और सत्य जिसकी ससार में अवश्य कमी है और जरूरत है हमें सेवा, सान्त्वना और न्याय देकर हमारी-विश्व की-महती सेवा करता है। उसकी रचनाओं से युग बनते हैं; सृजन होता है क्योंकि वह, उसकी कला, हमारे अध्ययन, अनुशीलन, अनुकरण और मनन की वस्तु बन जाती है। कलाकार-सच्चा कलाकार-कला की आराधना करता हुआ भी जीवन से विलग नहीं होता इसलिए 'कला जीवन के लिये' और 'कला कला के लिये' इनमें कोई अन्तर नहीं है। अन्तर तो कलाकार के अनुकरणकर्त्ता अपने मन के अनुकूल आदर्श कलाकार चुनकर उसके एकांगीपन को अपनी रचनाओं में प्राधान्य दे देते हैं तब प्रवेश पा जाता है।

कलाकार का अनुकरणकर्त्ता अथवा छाया कलाकार जब मनमौजी मनोरंजन-प्रिय होता है तब वह कला में मनोरंजन की ही उद्भावना करता है। वह कला का यही उद्देश्य मानता और इसी की साधना किया करता है। वह सोचता है कि मानव को—त्रस्त मानव को यदि क्षण भर के लिए उसके विषाद से, दुःखों से, दुश्चिन्ताओं से, झंझटों से, हटाकर हम क्षण भर के लिये सुख (सुखाभास), शांति (शांति की छाया), संतोष (संतोष का उपहास) दे सकते हैं तो क्या बुरा करते हैं? बच्चन का हालावाद इसी एकांगीपन का ही परिणाम है। इसमें जीवन को सब ओर से नहीं देखा गया है। वास्तव में यह भावना तो मदिरा के समान ही क्षणिक मनोरंजन देती है। सतत, ठोस मानव-

कलाकार के अनुकरण-कर्त्ता

कल्याण करने में असमर्थ रहती है। संसार की आद्य अवस्था में अथवा उन धनिकों के लिये जिनके पास समय का इतना प्राचुर्य रहता है कि वे नहीं जानते उसका क्या करें इसकी अवश्य महती आवश्यकता थी, रही है और रहेगी। किंतु मानव के एक बड़े भाग को जिसमें समस्त मानव की करुणा सिमिट कर समा गई है उसे मदिरा नहीं, स्थायी आनद चाहिये। इसीलिये कामनी--नारी-चित्रण की मदिरा को त्याज्य समझनेवाले भी कभी-कभी इस असली मदिरा को साहित्य और समाज के लिये सुस्वादु-पेया समझ ग्रहण करने लग जाते हैं। यह उनका व्यापक, सर्वांगपूर्ण विचार नहीं समझा जाता और इसीलिये समर्थन पाने के योग्य नहीं होता।

उक्त छाया कलाकारो की एक श्रेणी वह है जिसे जैन एवं बौद्ध दर्शन प्रिय सैद्धांतिकों के समान हम व्यक्तिवादी कह सकते हैं। समष्टि का उनके समक्ष कम ही मूल्य होता है। वे व्यक्ति की स्वतंत्रता, व्यक्ति की मुक्ति, व्यक्ति का निजी आनंद अथवा परमानद, ब्रह्मानद का ही स्वप्न देखा करते हैं। इन व्यक्तिवादी कलाकारों की हम 'स्वान्तः सुखाय' वालों के साथ गणना नहीं कर सकते। ये कला का उद्देश्य केवल स्वात्मानंद ही मानते हैं। वास्तव में स्वात्मानद जैसी कोई बात मैं कला में नहीं मानता। यह कलाकार में रहता अवश्य है किंतु यदि वह उस तक ही सीमित रहे तो वह कला की सीमा मे नहीं आ सकता। जब उसे बाह्य-रूप मिलता है, वह जीवन से संबंधित होता है तब ही कला का उद्गम होता है। कलाकार की अनुभूति जब तक उसकी स्वयं की अनुभूति रहती है तब तक वह विश्व, मानव या जीवन या समष्टि की वस्तु नहीं। वह तो एक प्रकार से वैयक्तिक संपत्ति के समान ही है।

ऐसे लोगों को तो जंगल में जाकर तपस्या करना चाहिये अथवा योग-साधना। जिन्हें ससार से मतलब नहीं, जो निम्नश्रेणी के ६६

प्रतिशत चौवनीवालों से घृणा करते हों उन्हें संसार की प्रवृत्तियों में ही भाग लेने का क्या अधिकार है ? उन्हें तो एक प्रति सैकड़ा वालों से धन-सम्मान प्राप्त कर मौज उड़ाना चाहिये ? ऐसे व्यक्ति मानव, जीवन या विश्व-कल्याण का नाम लेकर धोखा देते हैं। पाखण्डी हैं। संकुचित विचारवाले हैं जिन्हें जीवन और विश्व का ज्ञान तो नहीं किंतु जिनमें अहमन्यता, महत्‌भाव अवश्य हैं।

कला में सेवा का उद्देश्य तो स्वीकार किया जा सकता है बल्कि कला सेवा की ही नहीं, साधना की चीज है। सेवा और साधना से विरत (रहित) होकर कला मानव, विश्व-कल्याण कैसे करेगी मेरे ध्यान में नहीं आता। सेवा के बिना मानव को कला, उसमें निवास करने वाली करुणा, मानवता को देखेगी कैसे और साधना के बिना उसे आश्रय कहाँ मिलेगा ? वह अपने को व्यक्त कैसे करेगी ? सेवा और साधना से ही तो कला की उत्पत्ति होती है और वह स्वयं अपने लिये व्यक्त करे अथवा जीवन की अभिव्यक्ति करे इनमें कोई अन्तर नहीं रह जाता है। वास्तव में नर और नारी मिलकर ही एक मानव हैं। दोनों ही अविभाज्य और एक हैं। कहने मात्र के लिये चाहे इन्हें कोई भिन्न-भिन्न मानले। यथार्थतः कला कला के लिये ही होनी चाहिये। उसकी विकृति या छाया के लिये नहीं। ऐसी अवस्था में कला कला के लिये होकर भी जीवन के लिये ही हो जाती है। उदाहरण के लिये एक कलाकार है। वह निष्पक्षी होकर, सचाई के साथ, ईमानदारी के साथ, मनोविकारों से रहित होकर नारी-सौंदर्य का ही, मान लीजिये, चित्रण करता है। तब स्वतः नारी की जो वह कल्पना करेगा उसमें चाहे वह उसके स्तनों, नितंबों या गुप्तांगों का चित्रण करे

सेवा-साधना के मूल—कला और जीवन

वह उसमें मातृत्व का, एक अबला का, एक असहायता का, माता का, नग्ननिर्धन नारी का, परित्यक्ता का चित्रण स्वभावतः कर देता है कर सकता है या उससे हो जाता है जो मानविक, करुणा-पूर्ण और जीवन से भिन्न नहीं होता। यदि उसमें मनोविकार हुआ तो शुष्क यौवन का स्थान उद्दाम यौवन ले लेगा उद्दाम यौवन की सात्विकता का स्थान कुत्सित वासना ले लेगी। मनुष्य असदवृत्तिपूर्ण नहीं। असद्वृत्तिएँ तो उसको तब आक्रांत करती हैं जब उसकी सदवृत्तिएँ पराजित, अवहेलित होती हैं। छली जाती हैं। उनका दुरुपयोग किया जाने लगता है। एक दीन मानव, शक्ति सहित, परिश्रम पूर्वक जब पेट भर नहीं सकता, कमाता हुआ भी अपनी स्त्री और संतान के कष्ट हरण नहीं कर सकता तब वह विक्षुब्ध हो जाता है, चोर हो जाता है। वह शांति चाहता है किंतु क्रांति कर बैठता है। उसकी चोरी, डकैती और क्रांति समर्थन-योग्य है। कलाकार यदि मानव, मानवी का उसने दुग्ध पान किया है, वह इसी संसार का ही एक प्राणी है, अंग है तब कला का उपयोग कला के लिये करते हुए भी वह जीवन को कहाँ रख आयगा? जीवन से बिलग कैसे हो सकेगा? इसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। वास्तव में जीवन से भिन्न तो कोई चीज नहीं। कृति नहीं। जीवन से भिन्न कल्पना तो वह तब ही कर सकता है जब यदि वह पैदा होते ही जंगल में, एकांत में छोड दिया जाय जहाँ मानव की कल्पना को कोई स्थान ही न हो। तब वह क्या कल्पना करेगा? वास्तव में तो यह उसकी विडबना है कि वह सोचता है कि वह अनोखी कल्पना करता है। वह तो रूप-रंग, रेखाएँ सब यहीं से ग्रहण करता है। केवल उनका चित्रण अपने मनोनुकूल करता है। इसी मनोनुकूलता से हम उसे, उसकी कला या शैली को पहिचानते हैं।

कला के संबंध में हम एक बात और समझलें। कला फोटोग्राफी नहीं है यद्यपि फोटोग्राफी भी एक कला है। मेरे कहने का आशय यह

कला का स्वरूप

है कि दृश्य को वही का वही, वैसा का वैसा अक्स कर लेना कला नहीं है यद्यपि स्थल-संकोच और कागज वगैरह के कारण वह जो दृश्य व सुन्दरता का द्योतन करना चाहता है कर सकता है। फोटोग्राफी को कला का रूप तब प्राप्त होता है जब फोटोग्राफर लेन्स, केमरे के उपयोग से अपनी प्रतिभा, अपनी बुद्धि का उपयोग करता है। वह दृश्य को किस प्रकार, कैसे, कहाँ से लेना चाहिये इसका ध्यान रखता है। इसमें भी जब वह अपने हृदय की सरसता और अनुभूति को मिलाकर या वैसा योग पाकर अक्स खींच लेता है। इसी अवस्था में कला की पूर्णता हो सकती है किन्तु फोटोग्राफी में फोटोग्राफर की अनुभूति या हृदय की सरसता नहीं आ सकती। इसका एक क्षीण आभास भले ही आ जावे। इसीलिए साहित्य के क्षेत्र में या ललित कलाओं के क्षेत्र में कला से जो हमारा तात्पर्य रहता है उस अर्थ में हम कला को फोटोग्राफी नहीं मानते। बालकों एवं छात्रों में प्रायः यही हुआ करता है कि वे प्रायः नेताओं, शिक्षकों का वाह्य अनुकरण करते रहते हैं। साथ ही यदि कवि को देखते हैं तो उनमें कविता के प्रति, नेता को देखते हैं तो नेतृत्व के प्रति, वैज्ञानिक या वक्ता को देखकर विज्ञान अथवा वक्तृत्व के प्रति आकर्षण और अभिरुचि हो जाती है। यह रुचि समय, व्यक्ति, स्थान आदि के अनुसार क्षण-क्षण बदलनेवाली होती है। नवीन लेखकों में भी प्रायः यही प्रवृत्ति काम किया करती है। चूँकि वह जीवन में नया नया ही प्रवेश करता है उसे जीवन में एक नवीनता, एक स्फुरण, एक बहुलता, एक आकर्षण, एक जीवन, एक जोश और उत्साह दिखाई देता है। भाषा, भावों अनुभूतियों आदि का उसे अभिज्ञान पूर्णतः न होने के कारण उसके अन्दर जो लेखक रहता है वह प्रायः इसीलिए केमेरा और लेन्स ठीक करने में जैसा का तैसा दृश्य कागज पर ले लेने की ही चेष्टा करता है।

अभ्यास से वह चित्र भी सुन्दरता से भली-भाँति उतार लेता है। किंतु उन दृश्यों या फोटोग्राफों में अपनी अनुभूति, कल्पना या सरसता उतारने में सर्वथा असमर्थ रहता है। इसलिए हम कला को फोटोग्राफी भी नहीं मान सकते। साहित्य में फोटोग्राफी से मेरा आशय है ऐसी रचनाओं से जो रेल्वे स्टेशनों, शहरों, नदियो, पर्वतों आदि के भौगोलिक वर्णनों के समान रहती हैं अथवा जीवन की, मनुष्य की दिनचर्य्या आदि का इतना सूक्ष्म विवरण रहता है कि कोई साधारण, त्याज्य, अप्रयोजनीय बात या घटना उसमें से नहीं छूट पाती। लेखक प्रत्येक घटना या विषय का क्रमवार वर्णन देता है। ऐसे वर्णनों को विवरण या रिपोर्ट ही बनाना ज्यादा अच्छा होगा। इनमें हमें चाहे कला का आभास मिले किंतु कला नहीं मिल सकती। लक्ष्मीनारायण मिश्र में कुछ अंशो मे तथा एक सीमा तक पाश्चात्य साहित्य में भी जीवन के सम्पर्क का मतलब प्रत्येक वस्तु या घटना का यथासंभव विवरण देना समझा जाने लगा है। उसको यर्थाथता का रूप देने के लिए या जीवन के सन्निकट लाने के लिये प्रत्येक क्षण का विवरण देना मैं आवश्यक नहीं समझता। छपाई, पत्र-लेखन, न्यूजकटिंग आदि का वैसा का वैसा ही ब्यौरा साहित्य में अवश्य कुछ क्षणों के लिए नवीनता के कारण आकर्षित एवं अभिभूत करले, रुचिकर भी हो किंतु स्थायी नहीं हो सकता। इन्हें तो हमें रिपोर्टों, ऐतिहासिक अथवा भौगोलिक वर्णनों के लिए ही सुरक्षित कर देना चाहिये। साहित्य तो जीवन की सरसता, भावुकता, गहनता, मार्मिकता, अनुभूति, समवेदना और इनके व्यक्तीकरण, विश्लेषण, मनोवैज्ञानिक चित्रण का क्षेत्र है। साहित्य तो जीवन की फोटोग्राफी नहीं, उसका सार है। तटके फूल नहीं जो क्षणिक आकर्षण पैदा कर सूख जायँ। वह तो फूलों का रस, सार है जो स्थायी है, जो घनीभूत होकर सतत आकर्षक है। साहित्य को और इसके अन्दर कला को हमे इसी रूप में ग्रहण करना चाहिए।

दूसरी बात जिस पर हमें विचार करना है और जिस पर 'प्रसाद' सदृश महान् कलाकार के कारण विचार करना हमारे लिये आवश्यक हो जाता है वह है उनके दृश्य-काव्य में श्रव्य-काव्यता का आधिक्य। इसका कारण मुझे तो केवल यही ज्ञात होता है कि जब कोई महान् कलाकार कला या साहित्य का कोई विशेष क्षेत्र अपनी अभिव्यक्ति के लिये चुन लेता है, किंतु उस क्षेत्र के उपयुक्त सामग्री अध्ययन या अवलोकन, परीक्षण या पर्यवेक्षण के लिये नहीं मिलती, तब उसकी प्रतिभा का सार, रस तो उसकी कला-कृतियों में निचुड़ जाता है किन्तु शास्त्रीय नियमों संबधी दोष अक्सर उससे हो जाया करते हैं। उसका उस कला के प्रति केवल अध्ययन के आधार पर जो एक अस्पष्ट विचार रहता है उसी आधार पर उसे अपनी कला को सँवारना पड़ता है। 'प्रसाद' के नाटकों में जो 'सहसा प्रवेश' मिलते हैं वे 'प्रसाद' के दोष नहीं, उनके रंगमंचों के उस ज्ञान का परिणाम हैं जो आधुनिकतम पाश्चात्य ढंग के नहीं हैं। ऐसी रंगभूमिएँ उनकी कल्पना में समाई हुई हैं, जिनमें साधारण स्थान, साधारण परदे आदि होते तथा पात्र एक ओर से आते या चले जाते हैं। पारसी रंग-मंचों पर हमने यही देखा था कि पात्र किसी खास अवसर पर आ जाते थे और किसी कारणवश सहसा प्रवेश कर जाते थे। उनके नाटकों में 'सहसा प्रवेश' या 'प्रवेश' और 'प्रस्थान' इसी प्रकार के हैं। "चन्द्रगुप्त" और "स्कन्दगुप्त", "अजात-शत्रु" में इनकी बहुलता भी है। "चन्द्रगुप्त" में "अलका" के प्रस्थान कर जाने पर गांधार नरेश का कुछ ही सेकंडों के बाद उसे ढूँढने निकल जाना इसी प्रभाव के अन्तर्गत आता है।

दृश्य-काव्य में श्रव्य की स्थिति और कारण

ट्रेजिडी एवं कमेडी के लिये क्रमशः दुःखान्त एव सुखान्त शब्दों का प्रयोग केवल नाटक के अन्त के अनुसार करना उचित नहीं है। मेरे

आधुनिक नाटक-प्रकार

विचारानुसार इनके लिये संयोगात्मक एवं विषादात्मक शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। संयोगात्मक ऐसे नाटक माने जाने चाहिये जिनमें प्रारंभ से अन्त तक संयोग-शृंगार, हास्य-विनोद, सुखपूर्ण वातावरण हो या इनकी प्रधानता हो। वियोग अथवा विषाद को स्थान ही न मिले और मिले तो गौणरूपेण, अत्यल्प। मूल भावना या प्रवाह तो संयोगात्मक ही होना चाहिये। वियोग या विषाद तो क्षणिक और सहायक मात्र ही हो। उदाहरण के लिए हम शेक्सपियर का "कमेडी ऑफ एरर्स" या "एज यू लाइक इट" या भारतेंदु बाबू का "विद्या सुन्दर" ले सकते हैं। इनमें प्रारंभ से अंत तक यही हास्य-विनोद-समन्वित शृंगारिक भावना ही प्रधान है। विषादात्मक की श्रेणी में "अभिज्ञान शाकुन्तल" एवं "सत्य हरिश्चन्द्र" सदृश नाटकों की गणना होनी चाहिये। अंत में दुष्यंत एवं शकुन्तला के मिल जाने ही से इसे सुखांत या संयोगात्मक मान लेना उचित नहीं दिखायी देता। नाटक की समस्त कथावस्तु शकुन्तला के विषाद एवं अवहेलना से ओत-प्रोत है। हमारे हृदय पर यह बात अधिक प्रभाव नहीं डालती कि दुष्यंत से एक प्रतापी सम्राट का एक भोली भाली वन-कन्या से परिचय एवं प्रेम होता है और अंत में उनका सम्मिलन होता है। यदि यही बात होती तो "अभिज्ञान शाकुन्तल" को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं होता। किंतु उसका स्थान तो शकुतला की "घनीभूत पीड़ा", नारी जाति की अवहेलना, उसके त्याग-सौंदर्य की अलौकिकता पर निर्भर है। इस प्रकार "सत्य हरिश्चंद्र" में भी वही विषाद प्रारंभ और अन्त के थोड़े से भाग को छोडकर लबालब भरा हुआ है। इसलिये इसकी व ऐसे नाटकों की गणना विषादात्मक नाटकों में ही होना चाहिये। "वरमाला" रोमांस समन्वित सयोगात्मक नाटक है। इसमें भी "विद्यासुन्दर" के

समान ही रोमांस, हास्य, विनोदयुक्त संयोग-शृंगारिकता है। मेरा आशय केवल इतना ही है कि कोरा अन्त ही हमारी उक्त श्रेणियों की कसौटी नहीं हो। मूल भावना ही कसौटी हो। इस दृष्टि से विचार करने पर संस्कृत के भी कई नाटक विषादात्मक की श्रेणी में आ सकेंगे।

नाटकों की एक तृतीय श्रेणी संघर्ष-प्रधान नाटकों की भी मानी जानी चाहिये। नाट्य-साहित्य का मैंने जो थोड़ा-सा अध्ययन किया है उसके आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि कतिपय नाटक ऐसे भी हैं जो संयोगात्मक या विपादात्मक की श्रेणी में ही नहीं आते बल्कि उनमें पाये जाने वाले कतिपय भिन्न तत्वों के आधार पर वे एक तृतीय अर्थात् संघर्ष-प्रधान नाटकों की श्रेणी में गणना करने योग्य हैं। उनमें प्रारभ से लेकर अंत तक केवल संघर्ष ही संघर्ष, युद्ध, विप्लव, या इनका आयोजन, संघटन-विघटन और अंत में सफलता या विफलता रहती है। वैसे तो नाट्य-कला में अन्तर्द्वंद्वों और सघर्षों के कारण ही जीवन आता है किन्तु जब तक वे अन्तर्द्वन्द्व ही रहते हैं तब तक उक्त दो श्रेणियों के तत्वो की ही प्रधानता रहती है, किंतु जहाँ जय-पराजय और इसके साथ सफलता-विफलता जब संघर्षों की उत्पत्ति करती है तब ऐसे नाटक संघर्ष प्रधान ही माने जाना चाहिये। उदाहरण के लिये "मुद्राराक्षस", "कृष्णार्जुन युद्ध", "प्रताप-प्रतिज्ञा", "हड़ताल" (Strife) आदि ऐसे ही नाटक हैं जिनमे संघर्ष का उच्चतम अपितु प्रधान स्थान है। इनमें जो संयोगात्मकता एवं विपाद आया है वह संघर्ष का अङ्ग होकर, गौण होकर; केवल सघर्ष की सृष्टि, विकास एवं परिणाम-स्वरूप। "मुद्राराक्षस" में राजनीति, कुटिलनीति का संघर्ष है। किसी का संयोग-सुख, वियोग-विपाद उसमें नहीं है।

सघर्ष-प्रधान नाटक

संघर्ष का सफलता और विफलता के साथ चित्रण है। "कृष्णार्जुन युद्ध" में संघर्ष का औत्सुक्य, विस्मय, प्रेरणा और अवसान का सुन्दर निदर्शन है। "प्रताप प्रतिज्ञा" में भी इसी प्रकार युद्ध, केवल युद्ध, स्वाधीनता, मुक्ति, स्वातंत्र्य और इनके लिये चेष्टा, इस चेष्टा में तप, त्याग और साधना पूर्ण संघर्ष सफलता और विफलता के साथ ही प्रयुक्त होता है। "स्ट्राइक" भी संघर्ष से ही प्रारम्भ होता है; मध्य में संघर्ष की चरम सीमा होती है और संघर्ष का ही अन्त में अन्त होता है। अतएव इन तथा इसी प्रकार की अन्य रचनाओं को संघर्ष-प्रधान एक तृतीय श्रेणी में ही रखना चाहिये। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इस प्रकार की रचनाएँ पूर्व की उन दो श्रेणियों में अथवा ट्रेजि-कॉमेडी वाली श्रेणी में किसी प्रकार भी नहीं आती। प्राय: ऐसी रचनाओं में नैराश्य अथवा संघर्ष जनित विषाद या औत्सुक्य या विस्मय ही पाया जाता है।

नाटक के वाह्योपकरण और उनका महत्व

आत्मा की स्थिति के लिये शरीर की आवश्यकता तो होती ही है। आत्मा के स्वास्थ्य और सौंदर्य के लिये, उसके विकास एवं उच्चाधिष्ठित होने के लिये स्वस्थ शरीर भी वाँछनीय है। वह शरीर यदि सौंदर्य से संयुक्त हो तो सोने में सुगंध है। नाटक की आत्मा की रक्षा, विकास, संवर्द्धन एवं चरम सीमा प्राप्ति के लिए कतिपय वाह्य उपकरणों की आवश्यकता भी होती है। इन्हीं के आधार और संसर्ग पर वह खिल उठती है। अपने को पूर्ण रूप से व्यक्त करने में समर्थ हो सकती है। युग-युग से इसी का प्रदर्शन तो नाटकीय विकास हमारे समक्ष रख रहा है। जब वह अतीत के प्रागैतिहासिक काल में अस्पष्ट था तब मानव केवल साधारण प्रदर्शन और अनुकरण से ही संतुष्ट हो जाता था। तब न तो विशेष रूप से वस्त्राभूषणों की जरूरत होती थी और न रंगमंच की। समाज के कतिपय व्यक्ति, विशेष कर,

नट लोग जो इस प्रदर्शन और अनुकरण में दक्ष होते थे अपना नाटकीय कौशल अपने सहबंधुओं एवं अन्य प्रेक्षकों के समक्ष दिखाया करते थे। किंतु मानव की इस कला का जिसे उसने आग्रह एवं अनुग्रह पूर्वक पिता ब्रह्मा से पाया था और जिसमें लौकिक तथा अलौकिक का अद्‌भुत समन्वय पाया जाता है विकास अनिवार्य था। उसने कठ-पुतलियों के कौतुकों और छाया-चित्रों से अपनी मानसिक प्यास बुझाने की चेष्टा की किंतु उसे संतोष नहीं हुआ। नाट्यकला सजीव नहीं हो सकी। नाट्यकला की सजीवता के लिये रंगमंच एव साज सामान की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होने लगी। वेशभूषा की ओर ध्यान दिया जाने लगा। तब कहीं बीजांकुररूप में नाट्यकला समाज के समक्ष अपना प्रकटीकरण कर सकी। अभिनय के यथावत् प्रदर्शित करने के लिये, कला को स्वाभाविकता एवं यथार्थता से समन्वित करने के लिए नाटकों में वर्णित विभिन्न दृश्यों को, स्थानों को चित्रित करने के लिए परदों का प्रादुर्भाव हुआ। इसी समय नाटक की आत्मा को दिव्य शरीर प्राप्त हुआ। जो अदृश्य था, अलौकिक या मानसिक था, वह दृश्य-लौकिक एवं प्रत्यक्ष बन सका। 'सत्य' 'सुन्दर' के सहयोग से 'शिव' रूप हो सका। सूक्ष्म अंतर्जगत साकार और सजीव हो सका।

रंगमंच, दृश्य-पट और इनका महत्व

रंगमच के प्रादुर्भाव ने केवल शिल्प एवं ज्यामिति को ही प्रश्रय नहीं दिया किंतु अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप देने में बड़ी सहायता पहुँचाई। दृश्यपटों ने केवल चित्रकला को ही प्रोत्साहित नहीं किया किंतु उसको व्यापक और जातीय भी बनाया। इन्हीं के आधार पर नाट्य-कला, पवित्र सलिला, जीवन दायिनी भागीरथी इस मर्त्य-लोक वासियों के लिये सुलभ हो सकी। प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन हमें बताता है कि इस कला को सर्वाङ्गीण बनाने के लिये रंगमंच एवं दृश्य-

पटों की कितनी आवश्यकता है। इनका सांगोपांग पूर्ण विवेचन भारतीय नाट्य-शास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है। नाटकों के अभिनय के लिये कितना बड़ा, लम्बा, चौड़ा या ऊँचा रंगमंच चाहिये। किस प्रकार के नाटक के लिये, उसकी घटनाओं के प्रदर्शन के लिये, किस प्रकार के और कैसे दृश्यों का दिखाना आवश्यक है तथा कैसे दृश्यों को नहीं दिखाना चाहिये। किन दृश्यों के लिये कैसे परदे चाहिये। किस समय किस रस का नाटक खेला जावे। नटों की वेश-भूषा किस प्रकार की हो। अमुक देश अथवा पात्रों को दिखाना हो तो उनकी भाषा और वेश-भूषा कैसी हो ? नाटकों के कितने ही भेद प्रभेद भी हमें देखने को मिलते हैं। इससे आज चाहे हम यह सोचलें कि इस प्रकार की बातों में पूर्वाचार्यों ने व्यर्थ ही अपना समय, शक्ति एवं मस्तिष्क का उपयोग किया किंतु इन्हीं से हमें यह भी ज्ञात होता है कि उनकी पर्यवेक्षण शक्ति कितनी विस्तृत और वृहत् थी और उन्होंने जन-समूह के न केवल मनोरंजन के लिये किंतु समग्र मानव कल्याण के लिये इस कला को आज से सहस्रों वर्ष पहिले कितने उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया था। वे इस कला की सूक्ष्मताओं से भलीभाँति परिचित थे। रंगमच, दृश्य पट, नाटकीय घात-प्रतिघातों, द्वंद्वों एवं मानव-चरित्र का उन्हें समुचित, स्वानुभवजन्य, सूक्ष्म विवेचन एवं अवलोकन शक्ति पर अवलम्बित ज्ञान था। वे उसकी नस-नस से उसी प्रकार अभिज्ञ थे जैसे एक वैज्ञानिक या इंजीनियर अपने आविष्कारों एवं यंत्रों में विज्ञ रहता है। वह जानता है कि अमुक बटन दबाने से, अमुक यन्त्रों को अमुक प्रकार से संचालित करने से अमुक-अमुक क्रिया होगी अथवा प्रभाव पड़ेगा। पूरी की पूरी आविष्कृत वस्तु अथवा यन्त्र जैसे उसके मस्तिष्क-पटल पर लिखा होता है। उसी प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल में भी भारतीय नाट्य-कला-विशेषज्ञ उन सूक्ष्म मानविक क्रिया-कलापों, प्रकृतियों एव प्रवृत्तियों, भावनाओं एवं

विचार-पद्धतियों से तथा हृदय में उठनेवाले राग, द्वेष, ईर्षा, क्रोध, प्रेम, ग्लानि आदि विभिन्न एवं विरोधी भावों के उदय, संचरण एवं प्रभाव से पूर्ण परिचित थे। फलतः भारत को ऐसी अमर कृतिएँ एवं परम्परा प्रदान कर गये हैं जिनसे अधोगति के समय भी उसका मस्तिष्क उच्च और गौरवान्वित है।

हिंदी-नाट्य साहित्य के विकसित न होने का मुख्य कारण रंगमंच का अभाव ही है। रंगमंच की सुविधा, विकास एवं उन्नति ने जहाँ सोलहवीं शताब्दी में ही शेक्सपियर को जन्म देकर आंग्ल नाट्य-कला को चरम सीमा तक पहुँचा दिया वहाँ हिंदी-साहित्य के पास प्राचीन परम्परा के होते हुए भी रंगमंच के अभाव ने आज तक उसे विकसित होने से रोक दिया है। सवाक चित्रपट ने नाट्य-कला को जितनी हानि नहीं पहुँचाई उससे कई गुनी अधिक हानि हिंदी नाट्य-साहित्य को रंगमंच के अभाव ने पहुँचाई है। अभिनय-शाला के अभाव से ही हिंदी जनता पारसी थियेट्रिकल-कम्पनियों के भद्दे, असाहित्यिक, कुरुचिपूर्ण, चरित्र-चित्रण के अभाव एवं अपूर्णतावाले अभिनय देख कर ही संतुष्ट हुई और दोष की भागी बनी। भारतेन्दु बाबू ने इस कला की उन्नति के लिए पथ-प्रदर्शन तो किया, एक परम्परा का भी श्रीगणेश किया किंतु उसमें इतनी प्रबलता, महानता और कलात्मकता न ला सके कि उनके बाद के लेखक उनके पद चिह्नों पर चल कर उसे विकासोन्मुखगामिनी कर सकते। सम्भवतः ऐसा उनकी अल्पायु होने के कारण ही हुआ है। दीर्घायु यदि वे हुए होते तो अवश्य उनके महत् प्रयत्न हिंदी नाट्य-साहित्य की एक धारा, एक प्रवाह, एक विकास और एक क्रम बाँध देते। उनके ही प्रयत्नों

हिन्दी-नाट्य-साहित्य की अपूर्णता का कारण—रंगमंच का अभाव

से उनके नाटकों के कई अभिनय किये जा सके और इसीलिए उन्होंने अस्थायी रंगमंचों की स्थापना भी की थी क्योंकि रंगमंचो के बिना नाटकों अथवा अभिनयों की स्थिति और अस्तित्व का पहिचाना जाना एवं उन में स्थायित्व का आना प्रायः दुष्कर हुआ करता है। रंगमंच के कारण ही उनके कई नाटकों के विभिन्न अभिनय सफलता पूर्वक उनके जीवन-काल में ही किये जा सके। उन्होंने प्राचीन और नवीन दोनों परिपाटियों को ग्रहण किया। बङ्गला रङ्गशालाओं का भी, जो उस समय तक पर्याप्त उन्नति कर चुकी थीं, उन पर प्रभाव पड़ा था इसलिए उन्होंने इस दिशा में प्रगति भी की थी किन्तु उनके समक्ष हिंदी की अपनी कोई परम्परा न थी। कोई आदर्श, मार्गावलंबन या कोई तरीका न था। नहुष तथा प्रबोधचन्द्रोदय आदि नाटक नामक ग्रन्थ अवश्य थे किंतु उनसे कुछ ग्रहण कर आगे बढ़ना सम्भव न था। केवल पीछे वापिस लौटना था। राजा लक्ष्मणसिंह के "अभिज्ञान शाकुन्तल" आदि के सुन्दर अनुवाद अवश्य थे किंतु भाषा की दृष्टि से वे तत्कालीन हिन्दी-जनता की तृषा को शांत करने में असमर्थ थे। उन अनुवादों में एकांगीपन था जो केवल भारतेन्दु बाबू को ही नहीं किंतु अन्य आगे आनेवाले लेखकों को भी अग्राह्य होता। इसलिए भारतेंदु बाबू को केवल नाटक ही नहीं लिखने थे, नाटकों का आदर्श भी उपस्थित करना था। रङ्गशालाओं में कोरा अभिनय ही नहीं करना था, नाटकों का सृजन भी करना था और चूँकि उनमें सर्वतोमुखी प्रतिभा थी उन्होंने नाटकों के अनुवाद ही नहीं किये, मौलिक नाटक भी लिखे। अभिनय करके ही उन्हें नहीं दिखाया, पथ-प्रदर्शन भी किया। उन्होंने अपने नाटकों में इस बात का पूर्ण ध्यान रखा है कि वे रङ्गशालाओं के योग्य हो सकें। उनकी आवश्यकताओं पर उनका पुरा ध्यान था। इसीलिए आज भी वे सफलता पूर्वक अभिनीत किये जा सकते हैं।

इन्हीं के अभाव के कारण पण्डित बद्रीनाथ भट्ट एवं प्रसादजी से हमें जो आशा थी उसकी पूर्ति नहीं हुई। भट्टजी के समक्ष, ऐसा ज्ञात होता है, पारसी रङ्गमंचों के कुरुचिपूर्ण अभिनय थे और चूँकि वे साहित्यिक जीव थे उनमें सुधार करना, सुरुचि-सम्पादन करना एवं साहित्यिकता लाना चाहते थे इसलिए इन्हीं लाइनों पर पारसी रङ्ग-मञ्चों एवं अभिनय-प्रणालियों के ढग पर ही उनके नाटक पाये जाते हैं। कतिपय गाने देना यत्र-तत्र अनावश्यक भी शेरबाजी करना, कथोप-कथन में तुकतान भिड़ा देना, उन्हीं के प्रकार का निम्न कोटिका छिछला हास्य देना ये उनके नाटकों के दोष हैं जिनमें पारसी रङ्गमञ्चों की दृष्टि से एक सीमा तक परिमार्जन हुआ है। उनके समक्ष भारतेन्दु बाबू का आदर्श भी था। यदि हम कहें तो यह कह सकते हैं कि उनकी नाट्य-कृति पारसी कम्पनियों के नाटकों के परिमार्जित, अप-टू-डेट नवीन सस्करण थे जिन्हें पारसी रंगशालाओं के अभिनयों क स्थान पर कोई भी साहित्यिक, शिक्षित, सुरुचिपूर्ण व्यक्ति देखना अनुचित न समझेगा।

"प्रसाद" जी के समक्ष भी यदि रंगशालाएँ अपने विकसित रूप में होतीं, उनकी कल्पना के समान काल्पनिक नही होतीं, तो हिंदी का यह महान् कलाकार विश्व के अग्रगण्य नाटक-लेखकों में अपना गौरवा-स्पद स्थान बना सकता। शीघ्रता से पढ़ा और समझा जाता। किंतु इन्हीं के अभाव के कारण इनकी कृतिएँ अमर होते हुए भी प्रेमचंद की कृतियों के समान जन समूह में व्यापक होकर प्रचलित नहीं हो सकेंगी क्योंकि नाटकीय कतिपय बाह्य उपकरणों की इनमें प्रचुर कमी है। कतिपय भाषा संबंधी दोषों के साथ ही साथ वस्तु को व्यवस्थित करने, कथोपकथनों को स्वाभाविक, व्यापार समन्वित बनाने, कवित्व एवं कवित्व युक्त दार्शनिकता की दुरूहता के आ जाने संबंधी दोष इनकी निजी शैली के कारण जोकि व्यावहारिक अभिनय-प्रणालियों

एवं रंगमंचों के प्रत्यक्ष निरीक्षण के अभाव एवं अज्ञान के आधार पर गठित हुई हैं, आ गये हैं। प्रसाद का कलाकार इसीलिये अभिनय, दृष्टव्यता आदि की दृष्टि से पिछड़ गया है।

हिंदी के लिये किंतु अब वह समय इतिहास और अध्ययन की सामग्री हो गई है कि जब यह कहा जाता था कि हिंदी में खेले जाने योग्य साहित्यिक, सुरुचिपूर्ण नाटकों का अभाव है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद', गोविंद वल्लभ पंत, हरिकृष्ण प्रेमी, उदय-शंकर भट्ट, 'कुमार हृदय', माखनलालजी चतुर्वेदी एव सेठ गोविंददास जी आदि ऐसे आधुनिक नाटक लेखकों में हैं जिन्होंने रंग शालाओं की आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ध्यान रखने की सफल चेष्टा की है। 'वरमाला', 'कृष्णार्जुन युद्ध' की सफलता के सम्बन्ध मे तो कहना ही व्यर्थ है। समय-समय पर खेले गये उसके अभिनयों ने सिद्ध कर दिया है। 'प्रताप-प्रतिज्ञा' एवं 'रक्षाबंधन' भी कतिपय संशोधनों के उपरान्त स्टेज पर खेले जा सकते हैं। यद्यपि 'प्रताप-प्रतिज्ञा' की भाषा साधारण जन समुदाय के लिए क्लिष्ट हो गयी है किंतु उसमें ओज, काव्य-प्रवाह इतना प्रबल है कि उसकी क्लिष्टता भी जन-समूह पर, प्रेक्षक पर एक विलक्षण प्रभाव डालती है। इसलिये वह अरोचक अथवा थकान पैदा करनेवाला नहीं कहा जा सकता। उसके लम्बे-लम्बे कथोपकथनों में भी प्रवाह और एक विशिष्ट शब्दावली के चयन के कारण लंबे कथोपकथनों के दोष उसमें स्पष्टतया लक्षित नही हो पाते हैं। उदयशकर भट्ट तथा कुमार-हृदय में भी केवल अभिनय की दृष्टि से हम उक्त नाटकों का ही विकास देखते हैं। किंतु रगमंचों की आवश्यकतानुकूल, आधुनिकतम सुन्दर सामंजस्य या तो हमें लक्ष्मीनारायण में मिलता है या सेठ गोविंददास में। इनकी नाट्य कृतियों के बीच-बीच में जो लंबे-लंबे संकेत पात्रों एव वस्तु-दृश्यपटों

आदि के सम्बन्ध में दिये रहते हैं ये पाठक को अरोचक प्रतीत हो सकते हैं किन्तु प्रेक्षक के लिये, उनमें रसानुभूति या वस्तु के यथासाध्य प्रदर्शन के लिये आवश्यक हैं। दुःख तो हमें यह है कि आज हम उनकी सफलता का साकार रूप देखने में इसीलिये असमर्थ हैं कि स्थायी हिंदी रंगमंचों का सर्वथा अभाव है। रसिक एवं साहित्यिक संस्थाएँ भी, जन-रुचि का ख्यालकर इनका समुचित उपयोग नहीं करतीं। उधर सवाक् चित्रपट भी "मरे को मारे" वाली उक्ति चरितार्थ कर रहा है। किंतु सवाक् चित्रपटों के कारण ही हिंदी नाटकों का भविष्य उज्वल और आशामय है इसमें भी संदेह नहीं।

सुन्दर नाट्य-साहित्य के सृजन एवं संवर्द्धन के लिये नाटकों का अभिनय किया जाना ही पर्याप्त नहीं है किंतु अभिनेताओं की सामाजिक स्थिति के उच्च होने की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

अभिनेता और उनकी सामाजिक स्थिति

जब-जब अभिनयकर्त्ताओं का समाज में सम्मान बढ़ा है तब-तब सुन्दर नाट्य-साहित्य की सृष्टि हुई है। पाश्चात्य देशों में तो संभ्रांत राज-वंश के प्रमुख व्यक्ति तक अभिनय में भाग लेते हैं किंतु भारतीय समाज में वे अब तक अपना स्थान उच्च नहीं कर पाये हैं यद्यपि अब वह समय नहीं रहा है कि वे घृणा या तुच्छ दृष्टि से देखे जावें। अत्यन्त प्राचीन समय से भी यही बात रही है। पहिले-पहिले अभिनयकर्त्ता साधारण एवं निम्न जाति के व्यक्ति ही जो नट कहलाते थे, स्थान-स्थान पर घूम कर अभिनय दिखाया करते थे। वह विश्व की सभ्यता का आद्य-युग था। जैसे-जैसे इस कला का आदर बढ़ता गया उच्च कुलीन एवं स्थिति वाले व्यक्ति भी अभिनय-कला-प्रदर्शन में भाग लेने लगे। यहाँ तक कि राजवंश के व्यक्ति भी। यही वह अवस्था है जब हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि नाट्य-कला उन्नति कर चुकी है अथवा पूर्णोन्नति के पथ पर है।

भारतेन्दु बाबू के प्रथम तो कदाचित् ही कोई नाटक हिंदी में खेला गया हो। किंतु बाबूजी बड़े ही रसिक, कलाविद एवं कला-प्रेमी जीव थे। उन्होंने नाटक रचना ही न की प्रत्युत अभिनय में भी भाग लिया। उनके समय में और उनके पश्चात् नाटक तो लिखे जाते रहे किंतु न तो रंगमंच ही थे और न नाटक-लेखकों की वृत्तिएँ ही अभिनय में रमी थीं या उनमें अभिरुचि रखती थीं। इनमें न तो भारतेन्दु बाबू के समान प्रतिभा थी और न अभिनय-कला का ज्ञान। उनमें था तो केवल अनुकरण। कोरा अनुकरण जो भारतेन्दु बाबू की ख्याति का परिणाम, प्रतिच्छाया थी। इसी कारण हिंदी नाट्य साहित्य में भारतेन्दु बाबू के बाद एक गहरी खाई दिखाई देती है।

हिंदी नाट्य-साहित्य को अंगला राय महोदय के नाटकों के हिंदी अनुवाद

कुछ समय के पश्चात् इसका एक कारण और ज्ञात होता है जिससे हिंदी नाट्य-साहित्य पनप न सका बल्कि मरणासन्नावस्था में दबा पड़ा रहा। वह कारण है द्विजेंद्रलाल रॉय के नाटकों के हिंदी अनुवाद। इन्होंने उक्त खाई को गहरा ही नहीं किया किंतु नवनिर्माण भी उसका किया। ये अनुवाद ऐसे समय हिंदी साहित्य को प्राप्त हुए जब वह अविकसित ही नहीं अल्पल्प भी था। ऐसे समय रॉय महोदय के विकसित रुचि के प्रदर्शक, मानविक आघात-प्रतिघातों से ओतप्रोत एवं भावुकता और भावना-मूलक नाटकों ने हिंदी प्रेमी पाठको को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। परिणाम यह निकला कि हम में जो उस समय के उतने उच्च कोटि के नाटक लिखने की क्षमता का अभाव था वह और बढ़ गया। उनसे हीन मौलिक नाटक लिखे भी जाते तो उन्हें पूछता ही कौन? अभिरुचि या सेवा के नाम से जब कि किसी ओर से प्रशंसा या प्रोत्साहन न मिले साहित्य का सृजन होना सरल नहीं है। स्वाभाविक

नहीं है। फलतः इन अनुवादों की तीव्र चमक ने हिंदी नाट्य-साहित्य के विकास में अर्गला का काम किया।

यदि भारतेन्दु बाबू के समय अथवा उनके निधन के आसपास जो उत्साह नाटक लेखन की ओर पैदा हुआ था वह क्षणिक न होकर स्थायित्व लिये हुए होता, नाटक-लेखकों की प्रवृत्तिएँ इस कला की ओर पूर्ण आकर्षित हो जाती तो हिंदी का नाट्य-साहित्य आज से कहीं अधिक समृद्ध होता। 'प्रसाद' से महान् कलाकार नाटक-लेखक के अभिनय सम्बन्धी दोषों का उन्मूलन तब ही हो जाता। यह तो अवश्य मानना ही होगा कि नाटक लेखक यदि अभिनेता न हो तो उसे इस विषय का व्यावहारिक अनुभव तो अवश्य होना चाहिये। व्यावहारिक अनुभव के अभाव में वह सुन्दर से सुन्दर श्रव्य नाटक अवश्य दे सकता है किंतु दृश्य नाटक देना उसके लिये उपयुक्त या स्वाभाविक नहीं होता। ध्यान रखना चाहिये कि श्रव्य की अपेक्षा दृश्य-नाटकों द्वारा ही नाट्य-कला अपनी चरमाभिव्यक्ति करने में सफल हो सकती है। अभिनय कला के निदर्शन में हम दर्शकों की अवहेलना नहीं कर सकते क्योंकि रस का संचरण उन्हीं में होता है (Taste lies in the taster not in the taste. Tagore)

अभिनय एवं नाट्यकला

नाटकीय अभिव्यंजना के प्रमुख आधार प्रेक्षक ही होते हैं। उनके ही हृदय-पटल नाटकीय घात प्रतिघातों, द्वन्द्वों, वर्ण्य विषयों के वास्तविक चित्र ग्रहण कर सकते हैं यदि नाटक-लेखक उन्हें हँसा या रुला सकता है, उनकी प्रवृत्तियों को संचालित कर सकता है, यदि अलौकिक आनंद के साथ सत्य एवं सुन्दर से संपर्क करवा सकता है तो वह सफल है। मानव-कल्याण और कला के निकट है। पढ़ कर भी रस का संचरण होता है किंतु जो अगोचर होता है, जो भावनाओं से

निर्मित होता है, जो कल्पना में निवास करता है वह यदि गोचर, साकार एवं साक्षात हो जाता है तब वह अधिक व्यापक, कल्याणप्रद और कलात्मक हो जाता है क्योंकि उसमें मानव हृदय में गति-प्रदान करने की प्रबल शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। जब तक श्रव्य दृश्य नहीं बन जाता तब तक वह एकांगी, सीमित रहता है। इस कला को भी मैं स्वाभाविक नहीं मानता। 'मनुष्य ने थल, जल एवं वायु पर विजय प्राप्त की है', के समान ही कला ने स्वाभाविकता या प्राकृतिकता पर विजय पाई है। एक उदाहरण द्वारा मैं अपने को स्पष्ट कर दूँ। अभिनय के समय हम राम, सीता, दुष्यंत और शकुंतला को कार्य करते हुए देखते हैं। पर वे क्या राम, सीता, दुष्यंत या शकुन्तला आदि ही होते हैं ? क्या नाट्यकार या अभिनेता यह जानता है कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व ठीक इसी प्रकार राम-सीता, हरिश्चंद्र, विश्वामित्र, चंद्रगुप्त और चाणक्य आदि में संभाषण हुआ था अथवा रंग रूप में वे ऐसे ही थे ? इसी प्रकार वे उठा, बैठा या अन्य कार्य किया करते थे। फिर रंगमंच सदृश अति लघु एव सीमित स्थान पर ही ? यह सब मिथ्या है। कलाकार तो अशाश्वत में से शाश्वत, कल्पना और इतिहास में से वास्तव एवं जीवन की सृष्टि, अशिव एव असुन्दर को शिव एव सुन्दर में परिणत करते हुए, करता है। यही उसकी कला की विशेषता है कि वह अतीत के स्तर के स्तर उलटती हुई, इतिहास से, सूक्ष्म से, स्फुट से, क्षीणातिक्षीण रेखा ग्रहण करती हुई, जो कल था उसे आज बना देती है। इसी भाँति सामाजिक अथवा सामयिक कथावस्तु या चरित्र चित्रण ग्रहण करते समय कलाकार अप्रत्यक्ष ही को प्रत्यक्ष करता है। इसी प्रत्यक्षीकरण अथवा प्रकटीकरण को हम कला कह सकते हैं। मूल भावनाएँ जैसे हर्ष, विनोद, करुणा, प्रेम, द्वेष, क्रोध आदि की सृष्टि के आदि से मूल में रहती ही हैं। अमर ही हैं। उन्हीं की रूप-रेखाओं पर कलाकार अपने

कला-भवन का निर्माण करता है। वास्तव में कला का सुन्दरतम प्रकटीकरण, अभिव्यक्ति अदृश्य को दृश्य बनाने में ही है। दृश्य-काव्य के क्षेत्र मे नाटक को अभिनय योग्य बनाने में ही है। 'प्रसाद' से कलाकार में जब हम इस सुन्दरतम अभिव्यक्ति के दोष पाते हैं तब हम उसे दोषी ठहराने की अपेक्षा हिंदी नाट्य-साहित्य के अपूर्ण विकसित रूप को ही अधिक दोषी पाते हैं। यदि भारतेंदु बाबू द्वारा प्रचारित अभिनय-कला समुचित आदृत होती रहती, अभिनय कर्त्ताओं का सामाजिक माप-दंड ऊँचा रहता तो 'प्रसाद' में हमने कहीं इससे अधिक दृष्टव्यता के दर्शन किये होते। 'प्रसाद' केवल विद्वानों के ही समझने की वस्तु न रह जाते। तुलसी और प्रेमचंद के समान मानव के सब भागों में अधिष्ठित हो जाते। बिखर जाते। बँट जाते। जब अभिनय-कर्त्ताओं का आदर बढ़ा तो हमने देखा है कि आचार्य चतुरसेन शास्त्री, प्रेमचंद सदृश कहानी उपन्यास-लेखन के धनियों ने भी इस ओर झाँका है।

नाटक में स्वगत-कथनों का न होना एक सर्व मान्य गुण है क्योंकि इनसे अभिनय में अस्वाभाविकता आ जाती है। इनके कहने का तरीका यह है कि दूसरी ओर मुँह करके पात्र यह कथन करता है मानो कि रंगभूमि पर अन्य कोई पात्र उसका यह कथन न सुन रहा हो। जहाँ तक ये न हों तो अच्छा। लेखक की कला कुशलता का यह चिह्न है। किंतु ऐसे कथन, जो प्रवेशकों अथवा विष्कंभकों के समान हों और जिनमें एक ही पात्र हो, वस्तु, घटना आदि के सूचनार्थ जोड़ना क्षम्य हो सकता है। ये अस्वाभाविक भी न होंगे, क्योंकि प्रेक्षक तो अन्य घटनाओं गुप्त मंत्रणाओं, दोनों ओर के रहस्यों से अवगत होता ही रहता है। उससे कुछ छिपाया नहीं जा सकता। वह तो प्रेक्षक रहते हुए भी

नाटकों में स्वगत-कथनों का प्रयोग

एक निर्णायक भी हुआ करता है। अपने मनोनुकूल एक निर्णयात्मिका बुद्धि उसमें सदा जाग्रत रहती है। वह इतनी सूक्ष्म हो सकती है कि लक्षित ही न हो। इसलिये आंतरिक भावों को प्रकट करने के लिये ऐसे स्वगत-कथन जो एक पात्र ही करे अनावश्यक नहीं। मन में किसी के प्रति कुछ सोचना सर्वथा स्वाभाविक है। उसका प्रदर्शन यथोचित रूप से केवल गुन-गुनाहट के द्वारा ही हो सकता है। वह भी ऐसी जिसे दूर का पाठक भी सुन ले। पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका के परिणय प्रेम संबंधी कथन ऐसे है जो गुप्त कहे जाते हैं। उन्हें अभिनय में दिखाया जाता है। ये याऐसे कथन फिर क्यों न वर्ज्य होना चाहिये? अतएव ऐसे आंतरिक भावों का प्रकट करना लेखक की कमजोरी न समझी जानी चाहिये।

भारतेन्दु बाबू में स्वगत-कथनों का आधिक्य है। नाटक-लेखक की सफलता और कला इसी में गर्भित है कि वह कथोपकथन ही इस प्रकार का रखे कि पात्रों के भाव पूर्णतया व्यक्त होते रहें और 'स्वगत-कथनों' की आवश्यकता ही न पड़े। प्राचीन नाटकों में जो विष्कंभक, प्रवेशक, गर्भाङ्क आदि रखने की प्रथा थी वह केवल इसीलिये कि इनकी आवश्यकता ही न पड़े। उस समय नाट्यकार और अभिनेता समाज और प्रकृति के अधिक निकट थे। उन्हें सब के समक्ष, कभी-कभी बिना परदों के ही अभिनय करना पड़ता था। फलतः वे स्वगत-कथनों के स्थान पर गर्भाङ्कादि रख कर अस्वाभाविकता नहीं आने देते थे। आज केवल दृश्यों को दिखाना ही अभीष्ट होता है। इसलिये इनका प्रयोग न कर ऐसे छोटे-छोटे दृश्यों का नाटक में सम्मिलित करना आवश्यक है जिनसे चरित्र-चित्रण का विकास हो, हृदयगत भावों का स्पष्टीकरण हो और रंग-मंच पर अस्वाभाविकता न आने पावे। स्वयं 'प्रसाद' जी स्वगत-कथनों का प्रयोग करना आवश्यक नहीं मानते, किंतु अनेक स्थलों पर उन्हें इनका

प्रयोग करना पड़ा है। श्रव्य-नाटकों में इनका प्रयोग अस्वाभाविक नहीं होता यदि नाटक-लेखक का उद्देश्य ही पहिले से उसे श्रव्य ही बनाने का हो। किंतु प्रायः ऐसा होता नहीं। उसकी शैली के कारण ही दृश्य श्रव्य हो जाया करता है। 'प्रसाद' में यही हुआ है, यद्यपि कतिपय स्वगत-कथन 'प्रसाद' के पूर्णतया अस्वाभाविक नहीं कहे जा सकते। पं० बदरीनाथ भट्ट में इनका प्रयोग समुचित है ही नहीं। भारतेन्दु बाबू के स्वगत-कथन बड़े लम्बे होते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर 'वरमाला' का स्थान बहुत ऊँचा हो जाता है। इस अभिनय-योग्य छोटे नाटक में बड़ी ही सुन्दरता के साथ इनका अभाव कर ऐसे छोटे-छोटे दृश्यों को सम्मिलित किया गया है कि इनकी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। इसी दृष्टि से मिश्रजी (लक्ष्मीनारायण) के नाटक सर्वोत्तम हैं। इस लेखक ने कम पात्रों और कम स्थानों को स्थान देकर, हृदयगत भावों को स्पष्ट कहलवाकर इनका सुन्दरता से अभाव किया है। सेठ गोविंद-दासजी ने सूचक सामग्री एवं इनके अभाव के लिये दो राहगीरों अथवा यात्रियों के वार्तालाप रखने का प्रयास किया है जिसमें विशेष कुशलता लक्षित नहीं होती।

नाटकों में गीत-प्रयोग और समयावधि

मैं यह तो नहीं मानता कि नाटकों में सर्वथा गीतों का अभाव हो किंतु अनावश्यक गानों का प्रयोग अवांछनीय अवश्य है। अभिनय प्रेक्षकों की आवश्यकता को ध्यान में रख कर ही किया जाता है और किया जाना चाहिये। अत्यंत प्राचीन काल में अभिनय रात-रात भर हुआ करते थे। तब लोगों के पास इतना समय भी था और मनोरंजनों के साधनों का अभाव था। अभिनय भी उन्हें कम और एक दीर्घ समय के पश्चात् देखने को मिलते थे। फलतः वे रात-रात भर अभिनय देखना पसन्द करते थे। इसीलिये कई

ऐसे रूपकों की सृष्टि भी प्राचीन साहित्य में पाई जाती है जिनकी कथावस्तु का समय कुछ मास, कुछ सप्ताह या कुछ दिन ही होता था। कभी-कभी एक दिन का कथानक ही उन्हें कुछ ही घण्टों में दिखाना होता था। इसीलिये यह आवश्यक था कि कथा-वस्तु के साथ नाटकों में गायन और हास्य-विनोद को स्थान मिले। फिर मनोरंजन एवं कला-प्रदर्शन के साधन, जन-समूह की दृष्टि से ऐसी ही कृतिएं थीं। फलतः प्रेक्षक, अभिनय एवं अन्य कला की सब ही बातें एक ही स्थान पर देखना और अभिनयकर्त्ता दिखाना चाहते थे। इसीलिये नाटक ही नहीं धीरे-धीरे महानाटकों की रचना होने लगी थी। बाद में आवश्यकतानुसार प्रहसन, व्यायोग, नाटिका, भाण आदि की रचना अभिनय-कला के विभिन्न अंगोपांगों को लेकर होने लगी, किंतु आज आवश्यक और लम्बे-लम्बे गाने देकर नाटक का कलेवर बढाना, कवित्व-शक्ति प्रदर्शित करना सर्वथा अवांछनीय है। अभिनय-कला के लिये संगीत-कला की सहायता तो ली जा सकती है किंतु यह उसका अंग नहीं मानी जा सकती। केवल शैरों, गजलों या पद्यों में कथोपकथन करना तो नाट्य-कला का गला घोंटना है। इसलिये राधेश्याम, नारायणप्रसाद "बेताब" आदि के नाटकों में नाटकीय तत्वों के प्राप्त होने पर भी वे असाहित्यिक एवं अस्वाभाविक हैं।

पाश्चात्य नाट्य-साहित्य में आज यह तो प्रवृत्ति दिखाई देती है कि नाटक की कथा-वस्तु का समय कम हो। बहुधा एक मास, कुछ दिन या सप्ताह की वस्तुवाली रचनाएँ देखने को मिलती हैं किंतु गीतों का अभाव भी पाया जाता है। यहाँ विचारणीय यह है कि समय की अवधि की पूर्त्ति अरोचक व्यापार या कथोपकथन से न हो। इनसे अच्छा तो गायन-प्रवेश ही होगा क्योंकि गायन-कला को हम फोटोग्राफी अथवा घटनाओं की डायरी न समझें। बहुधा इसी कारण ऐसी जो थोड़ी रच-

नाएँ मेरे देखने में आई हैं और जिनमें जीवन की निकटता की दुहाई दी गई है उनमें अरोचक व्यापार, निरर्थक कथोपकथन एवं अत्यन्त साधारण बातों का भी विवेचन आ गया है। वास्तव मे जीवन देखने के स्थान पर हम जीवन का हिसाव-किताव या लेन-देन नही देखना चाहते। कला से हम ऐसी आशा नहीं करते। जीवन में प्रवाहित होनेवाली, अन्तर्मुखी धाराओं का प्रभाव ही हम साहित्य में देखना पसन्द करते हैं। इसलिये गीतों के स्थान पर या कम समय की वस्तु-रचना के कारण वस्तु को विकृत बनाना कभी श्रेयस्कर या कलात्मक नहीं हो सकता। पाश्चात्य यह प्रवृत्ति हिंदी नाट्य-साहित्य में भी थी। कुछ-कुछ एकांकी नाटकों में भी दिखाई देने लगी है। मैं इन उक्त अरोचक प्रणालियों को साहित्य में स्थान देने के पक्ष में नहीं हूँ।

भारतेन्दु बाबू के अनुवाद-नाटकों पर यदि हम विचार न भी करें और उनके मौलिक नाटकों को ही आलोच्य विषय 'बनावें तो भी हम देखते हैं कि उनमें कुछ तो प्राचीन परिपाटी के कारण, कुछ नवीन प्रणालियों के अभाव में और कुछ उनकी कविताभिरुचि के कारण गीतों, कविताओं के अतिरिक्त कवित्त और सवैयों का भी स्वच्छंद रूप से प्रयोग हुआ है। कविता या वर्णन की दृष्टि से पृथकतः वे गीत या पद्य उत्तम भले ही हों किंतु अभिनय की दृष्टि से उनका कोई महत्व नहीं। 'भारत-दुर्दशा' और 'भारत-जननी' में ही नहीं, 'सत्य हरिश्चन्द्र' 'चंद्रावली' आदि में दी गई लंबी-लंबी कविताएँ अरोचक और व्यर्थ सी हैं। इसी प्रकार की प्रवृत्ति कुछ तो भारतेंदु बाबू के आदर्श पर, कुछ पारसी कंपनियों की अनादर्श मनोरंजन-प्रियता के प्रभाव के कारण उनके समकालीन, बाद के नाटक-लेखकों एवं पं० बदरीनाथ भट्ट में हमें मिलती हैं। काव्य एवं संगीत का अनुचित प्रयोग जब हम 'प्रसाद' के नाटकों में पाते हैं तब हिन्दी में भारतेन्दु बाबू के पश्चात् नाट्य-

कला के विकास की इतनी कम प्रगति देखकर दुःख होता है। 'प्रसाद' जी कहीं-कही तो ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि केवल अपने सुंदर गीतों को ही स्थान देने के लिये कथावस्तु को भी उनके अनुकूल कर डालते हैं। गीत वस्तु या प्रवाह में सहायक होने के स्थान पर कथावस्तु ही गीतों के प्रवाह की ओर अग्रसर होने लगती है। क्या 'राज्यश्री', क्या 'अजातशत्रु', 'स्कदगुप्त' या 'चन्द्रगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' में आये हुए संगीत-कलावलंबित उनके गीत इतने सरस, भावपूर्ण, हृदयग्राही एवं तल्लीन करने वाले हैं कि हम भूल जाते हैं कि नाटक को मूल कथा वस्तु से उनका संबंध भी है या नहीं। कोई-कोई गीत तो इतना लंबा है कि जिसके गाने में आधे घंटे से कम समय न लगेगा यदि वह समुचित रूप से (नृत्यादि सहित) गाया जावे, यद्यपि पढ़ते समय हमें उसमें कुछ ही मिनिटों का समय लगता है। हाँ, 'चंद्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' के कुछ गीत ऐसे अवश्य हैं जो नाटक के योग्य अवश्य कहे जा सकते हैं, किंतु ऐसी कविताएँ कम ही हैं। गायन की यही प्रवृत्ति या कवि नाटक-लेखकों की यह प्रवृत्ति सभी नाटक-लेखकों में पाकर हिन्दी नाट्य-साहित्य के समुचित विकास में शंका होने लगती है। 'प्रताप-प्रतिज्ञा' 'रक्षा-बंधन', 'हर्ष' आदि सुंदर नाटक हैं किन्तु कविता प्रियता का इनमें भी अभाव नहीं किया गया है। विषयानुकूल होते हुए भी उनका आधिक्य अवश्य खटकता है। उदयशंकर भट्ट एवं सेठ गोविंददास की कविताएँ अनुकरण पर एवं निम्न कोटि की हुई हैं। ये लेखक कविता के द्वारा मनोरंजनी वृत्ति नाटकों में केवल निरुद्देश्य लाना चाहते हैं। चूँकि नाटकों में कविताएँ दी जाती हैं इसलिये इन्हें भी देना चाहिये। इनकी कृतियों में गायन-प्रवेश की प्रवृत्ति का यही कारण ज्ञात होता है। इनकी कविताएँ पद्य हैं जो साधारण कोटि के प्रेक्षकों का शायद मनोरंजन कर सकें। गीतों का उचित प्रयोग एवं

अभाव हमें लक्ष्मीनारायण मिश्र में मिलता है। इस नाटक-लेखक ने 'सन्यासी' में इनका अवश्य आवश्यकता से अधिक प्रयोग किया है किंतु 'किरणमयी' को उसने एक संगीत-प्रिया के रूप में चित्रित कर उनके औचित्य की रक्षा की है। साथ ही किरणमयी को इसलिये भी गाना आवश्यक हो जाता है कि वह अपने मनोगत, वेदनापूर्ण, टीस पैदा करने वाले भावों को दबाना चाहती है, गाकर भुला देना चाहती है। बाबू गोविन्ददासजी ने इनके औचित्य की ओर ध्यान रखने की चेष्टा तो की है किंतु वे सफल नहीं हुए। उदयशंकर भट्ट के गीत 'प्रसाद' के असफल अनुकरण के फल हैं।

नाटकों में प्रेक्षक का महत्व

नाटक प्रधानतः दृश्यकाव्य होने के कारण अभिनयात्मक होते हैं। इसलिये इनके अभिनयों में हम प्रेक्षकों को नहीं भुला सकते। कई नाट्यकार इनकी अवहेलना करते हैं और नाटकों को केवल अपने कवित्व, कला अथवा भाव-प्रदर्शन का ही साधन बनाते हैं। इनके लिये तो अच्छा हो यदि वे अन्य क्षेत्र चुनें। अभिनय में प्रेक्षकों को तो स्थान देना ही होगा। यह अवश्य है कि वह उन्हें कुरुचिपूर्ण, कला-हीन, असाहित्यिक सामग्री न दे किंतु इसका आशय यह तो नहीं है कि वह उन्हें ऐसी वस्तु दे जो उनकी समझ और योग्यता के बाहर हो। एक समय के बाद शिक्षा, संस्कृति एवं प्रवृत्ति में परिवर्तन हो जाने पर वे उच्चकोटि के कलात्मक अभिनय देख कर भी समझ सकते हैं किंतु उनकी कला, सौंदर्य, गहनता आदि को भी वे समझलें यह सम्भव नहीं। क्योंकि प्रेक्षक तो प्रेक्षक ही रहेंगे और उनकी एक प्रवृत्ति मनोरंजनात्मक भी हमेशा रहेगी ही। इसलिये उनकी इस प्रवृत्ति की रक्षा का ध्यान नाटक लेखक को अवश्य रखना चाहिये। शायद कोई यह सोचले कि एक समय कोई ऐसा आजावेगा कि वे दुरूह, क्लिष्ट-भाषा समन्वित अभि-

नयों को समझने योग्य हो सकेंगे। ऐसा सम्भव नहीं। प्रेक्षक के लिये भाषा का ध्यान रखना एक गुरुतर कर्तव्य समझा जाना चाहिये।

नाटक की भाषा सुबोध और सरल होना जरूरी है ताकि दर्शक उसे भलीभाँति समझ कर नाट्यकार के भावों को हृदयंगम कर सकें और प्रभावित हो सकें। अभिनय होते समय दर्शक यदि भाषा के कारण भावों को समझने में समय लगावेंगे तो अभिनय न देख सकेंगे। साथ ही यदि वे भाषा न समझ सकेंगे तो अच्छे से अच्छा ड्रामा भी उन्हें रोचक नहीं मालूम होगा और उनका जी उकता जायगा। भाषा में काफी माधुर्य, ओज, प्रवाह, मुहावरे, रचना-कौशल, कहने का ढंग और आकर्षक शब्दावली का होना भी आवश्यक है किंतु नाटक की आत्मा का, मूल भावों एवं भावनाओं का गला घोंटकर नहीं। नाटक की भाषा के सम्बन्ध में कोई एक निश्चित सिद्धांत स्थिर नहीं किया जा सकता। यह तो नाट्यकार की प्रतिभा, योग्यता एवं कला-कुशलता पर ही निर्भर है। विचारणीय विषय तो यह है कि पात्रों की भाषा कैसी हो ?

नाटक की भाषा

पात्रों की भाषा स्वाभाविक होना चाहिये अर्थात् वह जिस काल के वे पात्र हों अथवा उनकी अवस्था, योग्यता एवं परिस्थितियों के अनुकूल हो। प्राचीन नाटकों में भी इसका ध्यान रखा जाता था। शिक्षित पात्र जैसे राजा, मंत्री, ब्राह्मण, विद्वान् संस्कृत का प्रयोग करते तथा अशिक्षित, दास, अल्पज्ञ आदि पात्र प्राकृत एवं विकृत भाषा का। ऐसे पात्रों का कथोपकथन थोड़ा, प्रसंगानुसार, स्वाभाविकता की रक्षा करते हुए होना चाहिये। इसके लिये सबसे अच्छी बात तो यह होगी कि ऐसे पात्र जहाँ तक संभव हो कम ही हों। इससे स्वाभाविकता के साथ मनोरंजन

पात्रों की भाषा एवं भाषा की दृष्टि से हिं. ना. सा पर एक दृष्टि

एवं भावाभिव्यक्ति की समुचित रक्षा हो सकती है। ऐसी अवस्था में यदि भाषा कम भी समझी जायगी तो वह क्षम्य होगी किंतु ऐसे पात्रों द्वारा कथोपकथनों का विस्तार करना अनुचित है। इसी प्रकार विदूषक सदृश हास्योत्पादक पात्रों की भाषा का भी पूरा ध्यान रखा जाना चाहिये। उनकी भाषा अश्लील न हो पाये। वह परिमार्जित, व्यंग्यात्मक एवं सुरुचिपूर्ण हो। हास्य-प्रसंगों में यह बात अवश्य होती है कि कतिपय ऐसे पात्रों का प्रवेश आवश्यक हो जाता है जो निम्नकोटि के हास्योत्पादक होते हैं: जैसे वृद्ध-विवाह करनेवाला, शराबी आदि। किन्तु हास्य तो यहाँ भी सुरुचिपूर्ण ही वांछनीय है।

भारतेन्दु बाबू ने जिस समय नाटक लेखन प्रारम्भ किया उसके पहिले हिंदी में नाट्य-साहित्य नगण्य था। नाटक कहे जानेवाले ग्रंथ केवल लम्बे-चौड़े काव्य ग्रंथ ही थे जिनमें रामचरित मानस के आदर्श एवं शैली पर ही छन्दोबद्ध, काव्यात्मक कथनोपकथन मिलते हैं। वे नाटक-लेखक रंग-मंचों के अभाव, प्राचीन नाट्य-साहित्य से अपूर्ण परिचित होने के कारण तथा 'रामचरित-मानस' और सुर साहित्य के व्यापक प्रभाव के कारण शायद यह समझते थे कि कथनोपकथन होने से ही कोई ग्रंथ नाटक हो सकता है। इसी भ्रान्त धारणा के वश पूर्व भारतेन्दु काल के कतिपय लेखक नाटक के नाम पर पद्य लिख जाते थे। यहाँ अनुवाद-नाटकों के सम्बन्ध में मेरा उक्त कथन नहीं है क्योंकि राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद-नाटक केवल भाषा के विकास की दृष्टि से ही विचारणीय हैं। उक्त लेखक रामलीला, कृष्णलीला, कीर्तन आदि के अभिनय देखते और इन्हीं के आधार पर नाटक की एक भ्रांत, अस्पष्ट धारणा बना लेते थे। उस समय तक प्राचीन रंग-मंचों का अभाव हो गया था। मुस्लिम काल के एक संघर्षमय युग में जिसमें इस प्रकार की प्रचीन कला के लिये न कोई उत्साह था, न रुचि और न समय ही,

तब किस प्रकार नाट्य साहित्य की वृद्धि सच्चे रूप में होती ? रंग मंचों के स्थान पर रामलीला, रासलीला, कीर्तन आदि का प्रचार हो गया था जिसमें नाट्य-कला को कोई विशेष स्थान नहीं था। मनोरंजन और धार्मिक भावना ही प्रधान थी। भारतेन्दु बाबू के पिता गिरधरदासजी का 'नहुष' नाटक भी इसी प्रणाली पर लिखा कहा जाता है। वह अभी तक किसी के देखने मे नहीं आया है।

इसके अनन्तर राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद-नाटकों का युग आता है किन्तु राजा साहब का उद्देश्य नाट्य-कला की वृद्धि, उपयोगिता या अभिनय का नहीं था। उन्होंने तो राजा शिवप्रसाद की अरबी-फारसी शब्द मिश्रित भाषा के विरोध स्वरूप यह प्रदर्शित करने के लिये अनुवाद किये थे कि शुद्ध हिन्दी में भी रचना की जा सकती है और उर्दू शब्दों की आवश्यकता के बिना। इसलिए इन राजाद्वय में एकांगिता पाई जाती है। भाषा का वह रूप प्राप्त नहीं होता जो उस समय प्रचलित हो सकता। आदर्श मान कर जिसका अनुकरण किया जा सकता।

आधुनिक गद्य के वास्तविक जन्मदाता भारतेन्दु बाबू के समक्ष केवल यही प्रश्न नहीं था कि वे नाटक लिखें। नाटक लिखने के पहिले वे यह भी सोच लेना चाहते थे कि भाषा का कौन-सा रूप ग्रहण किया जावे। उनके समक्ष हिन्दी-साहित्य का, उसकी विभिन्न धाराओं के सृजन तथा भाषा के प्रचलित एवं सर्वमान्य रूप रखने का प्रश्न था। उनमें नाट्य-कला संबधी प्रतिभा स्वाभाविक एव प्रारम्भिक रूप में विद्यमान थी। फलतः नाटकीय दृष्टि से भारतेन्दु बाबू ने प्रथम अपनी नाट्य-प्रणाली तो वही प्राचीन रखी किन्तु भाषा वही रखी जिसका आदर्श वे हिंदी के लेखकों के लिये रखना चाहते थे। उनके अनुवाद एवं छायानुवाद इसी बात के द्योतक हैं। इसके पश्चात् उन पर नाटकों

के अनुवाद करने एवं बंगीय यात्रा करने के बाद बंगीय एवं आंग्ल प्रभाव भी पड़ा। अतएव भाषा का आदर्श वही रखते हुए भी उनका ध्यान भाषा के साथ ही नाटकीय तत्वों पर भी अधिक गया है। साथ ही न केवल भाषा में किंतु नाटक के आदर्श, मूल भावना एवं तत्वों में भी कई प्रतिभा-प्रसूत सुधार मिलते हैं। धीरे-धीरे भाषा से हट कर उनमें नाटक-प्रकारों के उदाहरण देने की एक प्रवृत्ति और आ चली थी और यदि वे दीर्घायु होते तो उसका पूर्ण रूप हमें देखने को मिल सकता। नाटकों के भेद प्रभेद तो प्राचीन-शास्त्रों में विस्तार पूर्वक मिलते थे किंतु उदाहरण के लिये रचनाएँ पर्याप्त न थीं। इसलिये उन्होंने नाटकों का प्रारंभ और विकास ही नहीं किया नाट्य-साहित्य में पथ-प्रदर्शन का बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य भी किया है। यही पथ-प्रदर्शन की भावना उनमें बड़े ही व्यापक रूप में प्राप्त होती है। अतएव वे आदि गद्य-लेखक ही नहीं आदि नाटक लेखक भी हैं। भाषा संबंधी उनकी कतिपय अशुद्धिएँ एवं व्याकरण के प्रयोग पूर्णतः अवहेलनीय हैं। उनके पश्चात् के।लेखकों पर जब हम ध्यान देते हैं तब भारतेन्दु बाबू का महत्व और बढ़ जाता है वास्तव में इनमें उच्च कोटि की प्रतिभा और सूक्ष्म थी। उनके नाटकों की भाषा सरल और सुबोध ही नहीं है वह साहित्यिक और सुरुचि पूर्ण भी है। उन्होंने पात्रों के अनुकूल भाषा रखने का बड़ा ध्यान रखा है। बौद्ध पात्रों की भाषा ठीक उसी प्रकार की है जिस प्रकार वे बोलते हैं। 'चन्द्रावली' में जो ब्रज की महिला है उस पर वही ब्रज-भूमि का प्रभाव लक्षित होता है। 'चन्द्रावली' नाटिका की मुख्य पात्रा चन्द्रावली है। उसकी भाषा में वही सरसता, लहजा, कवित्व एवं अनुभूति पूर्ण ब्रज-भाषापन छुआ पड़ता है। इससे यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वह ब्रज-भाषा में लिखी गई है अथवा खड़ी बोली में। जहाँ इन्होंने स्वतंत्र रूप से अपने भावों को व्यक्त करने के

लिये लिखा है वहाँ इनकी भाषा का बड़ा ही सुन्दर एवं ओज पूर्ण रूप प्राप्त होता है और ऐसे ही प्रसंगों से हम उनकी मूल प्रवृत्तियों का पता लगा सकते हैं।

भारतेंदुजी के पश्चात् जब हम हिन्दी-नाट्य-साहित्य के विकास की दृष्टि से भाषा पर विचार करते हैं तब हमें बड़ी निराशा होती है। भारतेंदु बाबू ने इतनी सुन्दरता, लगन एवं भव्यता के साथ मार्ग प्रदर्शन किया था एवं हिन्दी नाट्य-साहित्य की श्री वृद्धि की थी कि यदि उनके पश्चात् उनके चरण चिन्हों पर ही हिंदी ग्रंथकार नाटक लेखन की ओर ध्यान देते तो हिन्दीं-नाट्य-साहित्य आज इतना छूछा नहीं रह जाता। लाला सीतारामजी ने अवश्य कई नाटकों के अक्षरशः अनुवाद किये किंतु उनसे कुछ फल नहीं निकला और न निकल ही सकता था। उनके अनुवाद अनुवाद तो हैं ही किंतु भारतेंदु बाबू के पश्चात् विकास एवं प्रगति को पीछे की ओर ले जाने वाले सिद्ध हुए हैं। भारतेंदु बाबू से बदरीनाथ भट्ट तक एक खाई सी दिखाई देती है। कई साहित्यकारों ने भारतेंदु-युग से प्रभावित हो नाटक तो लिखे किंतु कोई नाटककार पैदा न हो सका। एक दो अवश्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हुईं। उक्त कमी के दो कारण ज्ञात होते हैं। एक तो पारसी अभिनयों की प्रधानता एवं दूसरा रॉय महोदय के नाटकों के अनुवाद। इन दो प्रधान कारण-शैल समूहों ने अविकसित हिंदी नाट्य साहित्य की निर्झरणी के पथ को रोक ही नहीं दिया वरन बदरीनाथ भट्ट पर भी गहरा प्रभाव डाला जिससे वे नाट्य साहित्य की ओर आकर भी भाषा के मार्ग द्वारा उच्च साहित्य एवं साहित्यिक, सुरुचि पूर्ण विनोद न दे सके। उनकी भाषा, भाव, प्रणाली, हास्य, बहुत कुछ पारसी अभिनयों के आदर्श पर अवलंबित है। जिनमें थोड़ा सा परिमार्जन, सुरुचि एवं सुधार मिलता है किंतु भाषा का वह प्रांजल रूप नहीं मिलता जो स्थायी हो सके।

नाट्य-साहित्य के गौरव की वस्तु कहा जा सके। इन्हीं शैल-समूहों ने प्रसाद के नाटकों को भी श्रव्य काव्य के दायरे में ही बंद रखने का परोक्ष आयोजन किया।

'प्रसाद' में वह उच्च कोटि की प्रतिभा, वह उच्च कोटि की कल्पना, वह उच्च कोटि की भाव-प्रकाशन की शैली है कि वह हमारे ही गौरव की वस्तु नहीं है विश्व-साहित्य में उनकी कृतिएँ बहुत गौरवपूर्ण उच्च स्थान प्राप्त करेंगी। इसमें भी संदेह नहीं यदि प्रसाद के सामने हिंदी रंगमंच होते, अभिनय की एक विकसित प्रणाली होती, उक्त शैल समूहों ने पथावरोध नहीं किया होता तो 'प्रसाद' के नाटकों की भाषा जिस रूप में आज हम देखते हैं उस रूप में नहीं होती। प्रसाद कविता एवं कल्पना के उच्च शृंगों से नीचे उतर कर प्रेक्षक एवं अभिनय-योग्यता के स्तर पर आकर अभिनय-कला का एक सुन्दरतम, भव्यरूप दे सकते। आज की भाषा में यदि हम कहें 'प्रसाद' देव नहीं होते। देवों के आदर्श आज का युग स्वीकार नहीं कर सकता। आदिम अवस्था में उनका आदर्श भले ही स्वीकार कर लिया गया हो। आज तो हम मानव को मानव ही देखना चाहते हैं। देवत्व की इसी भावना ने 'प्रसाद' को सुबोध, सरल प्रसाद-गुण संपन्न नहीं होने दिया। दुरूह गहन एवं दुर्लंघनीय बना दिया। भाषा को कहीं-कहीं नाटक की दृष्टि से कोमल कंकरीली बना दिया। भावों की विशदता में जहाँ 'प्रसाद' इतने ऊँचे हैं नाट्य कला भाषा की दृष्टि से पिछड़-सी जाती है। वास्तव में ऐसा ज्ञात होता है उस चोटी की प्रतिभा के व्यक्तीकरण के लिये उन्हें उपयुक्त या तो क्षेत्र नहीं मिला या उन्होंने चुना नहीं। कहानी और उपन्यास के क्षेत्रों में भी 'प्रसाद' इसी रूप में प्रकट हुए हैं। उनका क्षेत्र तो केवल कविता ही ज्ञात होता है। उनकी कल्पना, भाव-गाँभीर्य, काव्य-सौष्ठव के भार का वहन तो केवल काव्य का क्षेत्र ही कर सकता

था। वही जब काव्य में अँट नहीं सका तब इधर उधर फैलकर फूटकर प्रकट हुआ है। बात यह है कि 'प्रसाद' के हृदय और मस्तिष्क के वेग को सँभालने में अधुना विकसित हिन्दी भाषा योग्य न थी और जब 'प्रसाद' की गहन कल्पना, भावों का अप्रतिम-उद्गार, काव्य का घनीभूत सार, उनके दर्शन और इतिहास का चिंतन जब हिंदी में प्रकट हुआ तब वह हमें अटपटा सा लगा, किंतु २० वर्षों के पश्चात् हिंदी भाषा 'प्रसाद' के उक्त बोझ को सम्भालने योग्य हो गई है। इसीलिए विभिन्न क्षेत्रों में 'प्रसाद' का अनुकरण प्रारंभ हो गया है; गद्य गीत एव रूपों में। इसका स्पष्ट पता आज से २५ वर्ष बाद लगेगा कि 'प्रसाद' का अनुकरण कहाँ पर और कितना हुआ है?

शॉ, गाल्सवर्दी आदि में 'प्रसाद' सी उतनी भाव विशता, गहनता नहीं किंतु भाव प्रकाशन की शैली एवं विकसित भाषा के आधारों के सहारे उच्च और महान् हो सके किंतु 'प्रसाद' इसी भाषा के चक्रव्यूह (जिसका भेदन अब हो चुका है) के कारण कम समझे गये। इसी ने यथा समय न समझने दिया और विश्व तो क्या भारत भी 'प्रसाद' को जरा देर से समझेगा। 'प्रेमचंद' के समान शीघ्र नहीं। किंतु क्षेत्र में भी भाषा या दृश्य-काव्य की दृष्टि से हम कुछ भी कहलें उनकी महानता स्वीकार करनी ही पड़ती है। धीरे-धीरे जैसे हम उनकी भाषा और शैली से, विचार-धाराओं के क्रम से, कल्पना और दर्शन के आधारों से परिचित होते जाते हैं 'प्रसाद' हमें निखरते से ज्ञात होते हैं। दबे हुए रत्न के समान चमकते से दिखाई देते हैं।

'विशाख' से लेकर 'चंद्रगुप्त' तक जब हम भाषा की दृष्टि से विचार करते हैं तब हमे ज्ञात होता है जैसे हम किसी शैल-शृंग पर चढ़ कर उतर रहे हों। 'अजातशत्रु' शिखर का वह उच्च भाग था जिससे निम्न स्तर के मानव को, अभिनय को देखने में हम सर्वथा असमर्थ

थे किंतु 'स्कंदगुप्त' के शिखर पर उतरते ही नाट्य-कला अब अपने दृश्य रूप में दृष्टि-गोचर होने लगी है। और 'चन्द्रगुप्त' पर उतरते ही ऐसा ज्ञात होता है जैसे अब हम 'प्रसाद' को पहिचान ने से लगे हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' में तो जैसे 'प्रसाद' की नाट्य-कला स्वयं उतर आई है। इन रचनाओं के साथ 'प्रसाद' जी ने कुछ समय के लिये अपना पथ भी बदल दिया था और अपनी निज की भाषा और कल्पना के लिये उपन्यासों का क्षेत्र चुन लिया था। किंतु 'प्रसाद' में जो महाकवि, महाकाव्य का स्रष्टा कवि था उसे नाटकीय और औपन्यासिक क्षेत्रों से तृप्ति नहीं हुई। विशेष कर जब कि 'प्रसाद' के दार्शनिक चिंतन को कोई विशेष स्थान न मिला। इसलिए वह पुनः 'कामायनी' (काव्य-ग्रन्थ) के रूप में काव्य-कला रूपी प्रथम प्रेयसी का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए लौट आया। इसीलिए प्रत्येक दृष्टि से कामायनी में उनके सारे जीवन का तप, साधना, सार निचुड़ आया है।

इतना सब होते हुए भी 'प्रसाद' की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह भावों एवं उस काल की पूर्ण अनुगामिनी है। अपने विशद भावों के द्वारा जिस काल का वे चित्र रखना चाहते हैं उसके लिए इस प्रकार की भाषा की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होती है। 'प्रसाद' के प्रायः सभी पात्र अधिकांश पात्र ऐसे हैं जिन पर बौद्ध काल का प्रभाव पड़ा है। वह प्रभाव हम उनकी भाषा के द्वारा इसीलिए हृदयंगम कर लेते है कि वह हमें उसी युग के भाव-प्रकाशन की शैली एवं शब्दावली देती है। 'चन्द्रगुप्त' 'अजातशत्रु' को पढ़ते समय मौर्यकाल, 'स्कंदगुप्त' 'ध्रुवस्वामिनी' को पढ़ते समय गुप्त काल और 'राज्यश्री' का अध्ययन करते समय 'हर्ष' के समय का वातावरण हमारे नेत्रों में झूलने लगता है। हम एक क्षण के लिए भी यह स्मरण नहीं रख सकते कि हम बीसवीं शताब्दी में हैं। भाषा की यह तन्मयता बड़ी

ही उच्चकोटि की है। इतिहास के अनवरत अध्ययन में भी इतना सामर्थ्य नहीं है कि वह जो कल्पना प्रसूत हो उसे इतनी उज्ज्वलता, महत्ता एवं स्पष्टता के साथ साकार और दृश्य बना सके। इस महत् कार्य का नाट्य-कला द्वारा प्रदर्शन अकेले 'प्रसाद' ने ही पूरी-पूरी सफलता के साथ किया है। जिसका आस्वादन हम कल्पना और इतिहास के अध्ययन से भी कुछ ही अशों में कर सकते उसका पूरा रस 'प्रसाद' ने भाषा की एक विशिष्ट शब्द-योजना एवं खूबी के द्वारा हिंदी-साहित्य को करा दिया है। इसके लिए वह उनका चिर-ऋणी रहेगा। ऐतिहासिक घटनाओं तथ्यों, खोजों एवं दुरूहता आदि के गरल को 'प्रसाद' की प्रतिभा पान कर गई और नाटकों के रूप में सुन्दर अमर कृतियों रूपी अमृत हमें दे गई है। 'प्रसाद' के गहन अध्ययन, अनवरत परिश्रम का यही परिणाम है कि हिंदी 'प्रसाद' जी की अमर कृतियों को पाकर गौरवान्वित हो सकी।

अब प्रश्न यह उठता है कि जनता उनकी भाषा को पूर्णतया समझ नहीं सकती। उनके नाटकों के अभिनय उनकी भाषा की दुरूहता के कारण दर्शकों को रुचि कर नहीं हो सकते। कई स्थानों पर भाषा क्लिष्ट, कवितामयी एवं अत्यन्त गम्भीर दार्शनिकता से इतनी भर गई है कि प्रेक्षक उसे समझ नहीं सकता और उस रस का आस्वादन नहीं कर सकता, किंतु जिस तीव्रता के साथ वे अपने भावों को, अपनी कला को व्यक्त करना चाहते हैं उसके लिये भाषा के इस प्रकार के आवरण की आवश्यकता का अनुभव हमें होता है। विचारणीय प्रश्न यह रह जाता है कि उनके जो चित्र नाट्य-कला के माध्यम द्वारा हिंदी-साहित्य को प्राप्त हुए हैं उनके अनुरूप भी भाषा का भावों के साथ सामंजस्य होना चाहिये था किंतु यह तब ही संभव होता जब कि हिंदी भाषा इतनी उन्नत हो गई होती कि उसमें सब प्रकार के भावों को व्यक्त किया जा सकता। इतना होने पर भी कई बातें, कई विषय ऐसे रह ही जाते हैं कि

जिन्हें महान् कलाकार, उसकी अप्रतिम प्रतिभा भाषा के माध्यम द्वारा व्यक्त करने में अपने को असमर्थ पाती है। उनके भावों की तीव्रता इतनी आधिक्यपूर्ण होती है कि भाषा उसके भार को वहन नहीं कर सकती और तब उस महान् कलाकार को एक नवीन मार्ग निकालना पड़ता है। भाषा का सहयोग ही उसके लिये पर्याप्त नहीं होता। उसे भाषा को सुधारना, उसकी वृद्धि करना, उसे अपने अनुरूप बनाना पड़ता है। भारतेन्दु बाबू, द्विवेदीजी आदि युगप्रवर्तकों ने यही तो किया है। 'प्रसाद' की उच्च कोटि की प्रतिभा एव कला ने भी हिंदी में यही कार्य किया है। अब उचित तो यह है कि 'प्रसाद'की कृतियों का भाषा की दृष्टि से समुचित परीक्षण हो सके इसलिये उनके अभिनयों का होना जरूरी है। 'विशाख', 'राज्यश्री', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुव-स्वामिनी' के अभिनय साधारण परिवर्त्तनों एवं संशोधनों के उपरान्त सफलतापूर्वक किये जा सकते हैं और इन्हें तो हर हालत में स्टेज-मैनेजर जो आज भी पाश्चात्य आधुनिकतम अभिनय-शालाओं के होते हुए भी करना पड़ता है। कभी-कभी तो यहाँ तक हो जाता है कि नाट्य-कृति का रूप ही बदल जाता है। लेखक की वस्तु और अत्यल्प कथोपकथन रह जाता है और शेप सब स्टेज-मैनेजर की दक्षता में गर्भित हो जाता है। अतएव धीरे-धीरे जैसे-जैसे जन-रुचि शिक्षित और संस्कृत होती जायगी और प्रसाद पढ़े जाने लगेंगे वैसे-वैसे प्रसाद को समझना कम कठिन होता जायगा। कलाकार सदा अपने युग से आगे ही चला करता है इस उक्ति में तथ्य है, सत्यांश है। प्रसादजी अपने युग से बहुत आगे बढ़े हुए हैं, इसलिए अब हमें ही दौड़ कर उनके पास पहुँचना होगा, उन्हें समझने के लिये हमें ही प्रयत्न करना होगा, किंतु भाषा का यह रूप सर्व व्यापक हो सकेगा, जनरुचि के अनुरूप किसी समय हो सकेगा अथवा उनकी इस भाषा के अनुकरण पर सफल नाटक रचे जा सकेंगे

इसमें संदेह है। विनोदशंकर व्यास ने कहानियों के क्षेत्र में, सेठ गोविंददासजी एवं उदयशंकर भट्ट ने नाटक के क्षेत्र में प्रसादजी के अनुकरण की चेष्टा अवश्य की है। किंतु उस गंभीरता तक, भाषा की उस प्रसाद-प्रणाली तक वे पहुँचने में असमर्थ रहे हैं। सेठ गोविंददास कुछ सफल भी हुए हैं किंतु भट्टजी का अनुकरण तो केवल बाह्य अनुकरण मात्र है। गीतों में अवश्य महादेवी अपने सम्पूर्ण निजत्व के साथ 'प्रसाद' की श्रेणी में परिगणित की जा सकती हैं। वास्तव में वह तो 'प्रसाद' की अद्वितीय प्रतिभा थी जो तीव्रता और सफलता से अपना पथ प्रशस्त कर गई।

'प्रसाद' के पश्चात् के नाट्यकारों में मुख्यतः लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट और सेठ गोविंददासजी के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें भाषा की दृष्टि से जब हम मिश्रजी पर विचार करते हैं तब हमें बड़ी निराशा होती है यद्यपि बाद के उनके नाटको में निराशा के लिए कम स्थान होता जा रहा है। ऐसा मालूम होता है कि सुन्दर षोडशी कला किसी काम-शास्त्र के ज्ञान से रहित युवक के संपर्क में आगई है। जिस अव्यवस्थित युग में से आज हम गुजर रहे हैं उसकी अव्यवस्था का चित्र यदि हमें व्यवस्थित भाषा में प्राप्त होता तो हम इस युग का भली भाँति दर्शन कर सकते। भाषा की शिथिलता, उखड़ापन, अपरिपक्वता इस युग के नग्न सत्य को प्रकट करने में सर्वथा असमर्थ प्रतीत होते हैं। पात्रों के अधूरे कथन करना, एक-एक कर बोलना, आवश्यकता से अत्यधिक विषय प्रेक्षकों के मस्तिष्कों को विचार के लिए छोड़ देना 'कोढ़ में खाज' वाली कहावत को ही चरितार्थ करना है। मिश्रजी के नाटकों से उनकी भूमिका की भाषा कहीं अधिक व्यवस्थित, विचार पूर्ण, भावों को व्यक्त करनेवाली है। उतनी ही तीव्रता यदि वे अपनी नाट्य कृतियों में व्यक्त कर सकते तो उनकी अल्हड़ षोडशी-कला खिल पड़ती अत्यन्त सुन्दर हो निखर पड़ती। ऐसा ज्ञात होता है कि

उसके तीव्र भाव, अद्भुत मानसिक संघर्ष, अन्तर्द्वंद्व, उसकी नाटकीय भाषा के ओछेपन में बँध नहीं पाते हैं, निकल पड़ते और बिखर जाते हैं। अपने हृदय-गत भावों को वह गूँथ नहीं पाता है। व्यवस्थित नहीं कर पाता है। उसके भाव ही उसके वश में न होकर भाषा की सीमा का ख्याल न कर छूट-छूट कर भाग जाते हैं। इसका कारण यही विदित होता है कि उसकी भाषा की अपेक्षा उसके भावों का विकास एवं वृद्धि बड़ी शीघ्रता के साथ हुई है। उसकी भाषा के विकसित और परिपक्व होने के पहिले उसके मस्तिष्क में विचारों के बवंडर आ उपस्थित हुए हैं और भाषा उनका बोझ सँभाल नहीं सकी है। इसीलिए मिश्रजी के नाटकों में जो भावों की तीव्रता, आधुनिकता, इस युग के पाश्चात्य सभ्यता के प्रसाद-द्वारा संघटित द्वंद्व हैं तथा सामाजिक कुरीतियों की आँधी जो भारत के आन्तरिक जीवन में उथल-पुथल मचा रही है, स्पष्ट नहीं हो पाती है और मिश्रजी के संदेश को सुनने नहीं देती। भाषा का आवरण मिश्रजी को अच्छा नहीं मिला है। इस नाट्य-कार ने इस युग से, आधुनिक शिक्षा से, आधुनिक परिस्थिति एवं समाज से जो पाया है वह खुले हाथ एक अविचारी, अल्पवयस्क तरुण के समान सब वैसा का वैसा ही लुटा दिया है। उसे लुटाने के पहले उसका मंथन एवं परिमार्जन कर उसे हिंदी-साहित्य के समक्ष नहीं रखा। अपनी कला को अपर्याप्त आवरण में ढँक कर ही मानों बाजार में ले आया है। जब हम भाषा की दृष्टि से विचार करते हैं तो ये विचार सहसा हममें प्रवेश किये बिना नहीं रहते। चाहिए तो यह था कि हमारा यह तीव्र भावोंवाला नाटक-लेखक कुछ समय के बाद जब इसकी भाषा में शक्ति आ जाती, वह परिपक्व और पुष्ट हो जाती, उसमें पर्याप्त परिमार्जन हो जाता तब अपने भावों का भार उससे वहन करवाता अथवा खुद ही कुछ संयत होता। तब ही समर्थ भाषा में उसके हिंदी

के लिए नवीन इस युग के भाव खिल उठने, क्रान्ति पैदा कर देते, उथल-पुथल मचा देते। उसके विचार भी यदि छन जाते, उनकी गंदगी यदि नीचे बैठ जाती, उसे यह अपने हृदय-तल में रहने देता तो यह कलाकार अमृतोपम जल की भाव-निर्झरणी हमें दे सकता। इसकी भाषा इसके अनुरूपिणी हो सके इसके लिए आवश्यक है कि इसकी कृतियों का संशोधन एवं संपादन किया जावे। कम-से-कम भविष्य में तो लेखक को अपनी ओर जरा ठहर कर विचार कर ही लेना चाहिए।

अभिनय सुन्दर, सामयिक जन रुचि के उपयुक्त और पूर्ण सफल हो सकें इसलिए आजकल मुख्य प्रबंधक का स्थान महत्वपूर्ण होता जाता है। ज्यों-ज्यों अभिनय कला की सूक्ष्मताएँ बढ़ती जा रही हैं वैसे-वैसे उसकी आवश्यकता भी बढ़ रही है। वह एक अनुभवी व्यक्ति होता है और उसका प्रत्यक्ष तथा व्यावहारिक ज्ञान लेखक से कहीं अधिक होता है। सुन्दर से सुन्दर कृतियों को भी सफलता प्राप्त करने के लिए उसकी सहायता अपेक्षित रहती है। योग्य प्रबंधक साधारण से साधारण नव सिखुए लेखकों की कृतियों को भी चमका देता है। हिंदी नाट्य-साहित्य फल फूल सके इसलिए रंगमंच और मुख्य प्रबंधक भी उसी के अंग माने जाने चाहिये इसका कार्य पहिले सूत्रधार और स्थापक किया करते थे। बाद में दोनों के कर्तव्य सूत्रधार को ही करना पड़ने लगे। प्राचीन साहित्य का सूत्रधार ही आज का स्टेज मैनेजर है।

अभिनय में मुख्य-प्रबंधक का स्थान

नाटक और उपन्यास के मूल तत्वों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों में कथावस्तु एक ही प्रकार से हो सकती है। उनका प्रारंभ, विकास और अंत एक सा हो सकता है। चरित्र-चित्रण भी दोनों में एकसा होता है। पर दोनों में बहुत बड़ा अंतर भी है। उपन्यास की कथा छोटी से छोटी

नाटक और उपन्यास में अंतर

और बड़ी से बड़ी हो सकती है। पर नाटक में इतनी स्वतंत्रता नहीं। वह तो, बंधनों और सीमाओं से जकड़ा रहता है। उपन्यास विशेष कर पढ़ने के लिये और नाटक खेले जाने के लिये लिखे जाते हैं। नाटक पूर्ण सफल तभी समझा जा सकता है जब सफलता पूर्वक उसका अभिनय किया जा सके। उपन्यास में साधारण अध्यायों से जो छोटे से छोटे और बड़े से बड़े हो सकते हैं काम चल जाता है और लेखक अपनी ओर से भी बहुत कुछ समझाता और चरित्र चित्रण में सहायता पहुँचाता रहता है। पर नाटक में विशेष नियमों, रंगशाला, दृश्यों के दृश्य होने, उचित समय में समाप्त होने आदि बातों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है और लेखक अपनी ओर से कुछ नहीं कह सकता। जो कुछ उसे कहलाना होना है वह सब पात्रों के द्वारा ही उचित स्थान पर समावेश कर कहलवा सकता है। नाटक में पर्याप्त ज्ञान और कला कुशलता की आवश्यकता रहती है। उपन्यास से अप्रत्यक्ष अनुभव होता है किंतु नाटक से प्रत्यक्ष। इन्हीं कारणों से नाटक का उपन्यास से महत्व भी बहुत अधिक है।

नाटक और उपन्यास में अन्तर समझने के लिये 'संग्राम नाटक' बहुत ही उपयुक्त ग्रंथ है। नाम तो उसका नाटक है किंतु है वह कथोपकथन समन्वित उपन्यास ही। संग्राम पढ़ते समय हमें यही ज्ञात होता है कि हम उपन्यास पढ़ रहे हैं परन्तु नाटक नहीं। यद्यपि उसकी कथा-वस्तु अध्यायों अथवा परिच्छेदों के स्थान पर अंकों और दृश्यों में बँटी हुई है। पात्रों का चित्रण कथोपकथन द्वारा ही किया गया है। कथा बातचीत के रूप में ही रखी गई है और लेखक ने अपनी ओर से एक शब्द भी नहीं कहा है। फिर भी "संग्राम नाटक" नाटक नहीं उपन्यास ही है। इससे 'कर्बला' नाटकों में कहीं अधिक स्थान पाने का अधिकारी है।

"संग्राम" के समान ही हरिकृष्ण 'प्रेमी' के पिछले नाटक 'शिवा साधना' एवं 'प्रतिशोध' की गणना नाटकों में करना नाट्य-कला का अपमान करना होगा। नाटक नामधारी ये कृतिएँ नाटक तो हैं ही नहीं उपन्यास भी नहीं हैं। हैं तो केवल कथोपकथन के रूप में इतिवृत्त कथन, जिनमें साहित्यकता, रस, नाट्यकला का सर्वथा अभाव है। ऐसी रचनाओं का नाटकों के नाम से प्रकाशित न होना ही अच्छा था।

नाटक में भाव उछलते-कूदते चलते हैं। उनमें चंचलता, तीव्रता और व्यापार होता है। घटनाएँ द्रुत गति से घटित होती रहती हैं। नाटक में रुकने का, ठहरने का नाम नहीं। उसमें आगे ही बढ़ते जाने की क्रिया रहती है। संघर्ष ही संघर्ष रहता है। अन्तर्द्वंद्व बड़ी प्रखरता से प्रयुक्त होते हैं। उपन्यासों में यह बात नहीं होती और न हो सकती है। उसकी कथा वस्तु धीरे-धीरे चला करती है। पात्रों का चरित्र मंद गति से ही गठित होता रहता है। नाटक वायुयान की गति से दौड़ते हैं और उपन्यास जलयान की।

नाटक इतिवृत-कथन या इतिवृत्त वर्णन भी नहीं है। उसमें केवल वर्तमान को स्थान है। भविष्य का आभास है। भूत का कोई अस्तित्व नहीं, कथानक चाहे पौराणिक तथा ऐतिहासिक ही क्यों न हो। प्रेक्षक तो घटनाओं को सामने देखना चाहता है। घटित हुई घटनाओं की सूचनाएँ सुनने के लिये नहीं जाता। इसलिये जहाँ इतिवृत्त कथन की प्रणाली नाट्य रचनाओं में घर कर जाती है वहाँ नाटकीय क्षेत्र तो छूट ही जाता है। उसमें हम न तो उपन्यास की उद्भावना कर सकते हैं और न इतिहास की ही। इस दृष्टि से हरिकृष्ण प्रेमी के प्रयास 'शिवा-साधना' और 'प्रतिशोध'- सर्वथा असफल प्रयास हैं। 'रक्षा-बंधन'

से प्रेमीजी विकास के स्थान पर बहुत नीचे उतर आये हैं और अपनी नाटकीय योग्यता में शंका पैदा करते हैं।

यह स्वाभाविक ही होता है कि जब कला एव काव्य के किसी विशिष्ट अंग का महत्व अधिक हो जाता है तब काव्य एवं कला के अन्य अंग भी उसका अनुकरण करते हैं, उन पर उसका प्रभाव पड़ता है। अन्य विषयों के लेखक भी उस ओर अपनी रुचि ही नहीं रखते वरन् उसमें रचना करने का साहस भी करते हैं। जब कविता का प्राधान्य होता है तो अन्य विषय के लेखक भी कविता लिखना आरंभ कर देते हैं। यहाँ तक कि वैद्यक विषय के कई ग्रंथ भी छंदोबद्ध पाये जाते हैं। इस प्रकार जब नाटक की ओर रुचि बढ़ती है तब क्या कवि, क्या गद्य या उपन्यास लेखक नाटक रचना करना चाहते हैं। यह प्रवृत्ति साधारण कलाकारों में ही दिखाई देती है यह बात नहीं है, महान् लेखकों, कवियों एवं कलाकारों में भी दिखाई देती है। सूर ने राम पर पद लिखे। तुलसी ने कृष्ण गीतावली लिखी। प्रेमचंद ने 'कर्बला' और 'संग्राम' नाटक लिखे और प्रसाद ने 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यास, कवि पंत ने 'ज्योत्स्ना' नाटक। राधाकृष्ण दास का 'महाराणा प्रतापसिंह', मैथिलीशरणजी गुप्त के 'तिलोत्तमा और' 'चंद्रहास', माखनलालजी चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध', हरिकृष्ण प्रेमी का 'रक्षा-बंधन', गोविंदवल्लभ पंत का 'वरमाला', 'समाज', 'अछूत', 'पूर्व भारत' (मिश्र बंधु) 'महाभारत' आदि रचनाएँ इसी कोटि में आती हैं। इनमें कुछ तो सफल रचनाएँ हैं और कुछ असफल। यदि सर्वतोमुखी प्रतिभा हो तो कोई बात नहीं किंतु इसके अभाव में कभी-कभी उतनी ही कलात्मक रचना नहीं हो पाती है। भारतेंदुबाबू के पश्चात् की प्रवृत्ति पर जब हम ध्यान देते हैं तो हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि सब ही लेखक निबंध एवं नाटक लेखन में प्रवृत्त हैं, और भारतेंदु के पथ पर जाकर

भी असफल ही रहे हैं। बीच में जब नाटकों का विकास रुक गया तब कोई लेखक इस ओर नहीं बढ़ा, किंतु बदरीनाथ भट्ट और प्रसाद के पश्चात् पुनः अब वही प्रवृत्ति जाग्रत हो गई है और वह भी हिंदी अभिनयशालाओं के अभाव में।

इसका परिणाम यह निकलता है कि प्रतिभाशाली कलाकारों की ऐसी रचनाओं की एक पृथक् ही श्रेणी हो जाती है। नाटक का श्रव्य होना ऐसे महान् कलाकारों की कृतियों द्वारा संभव हो सका। गद्य-काव्य का श्रेणी-विभाजन कवि-हृदय गद्य-लेखकों की प्रतिभा द्वारा ही पृथक् हो सका। नाट्य-साहित्य में भी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसके कतिपय तत्वों का ग्रहण कविता-ग्रंथों, आख्यायिकाओं एवं उपन्यासादि अंगों में प्रचुरता से कई लेखकों ने किया है। नाटक के कथोपकथन नामक तत्व के महत्व को इसीलिये साहित्य के अन्य अंगों ने भी अपनाना प्रारम्भ कर दिया है। सवाक् चित्रपट तो इसी का सहोदर है जिसने अपने भ्राता की पैत्रिक संपत्ति का अपहरण कर स्वयं श्रेष्ठता प्राप्त करली है। इसके तत्वों विशेषकर कथोपकथन के अपनाने से कला सुन्दर हो जाती है, ऐसा कहा जाने लगा है। लेखक इसे अपनाकर सुन्दरता और कलात्मकता की सृष्टि कर सकता है किंतु इसी तत्व में दक्षता प्राप्त कर लेने पर वह नाटक लिखने की चेष्टा करे तो वह असफल भी हो सकता है।

आजकल नाटक के छः तत्व माने जाते हैं। वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश-काल, शैली और उद्देश्य। नाटक में वस्तु या सामग्री चुनने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है क्योंकि इसमें बड़ी कथावस्तु उपन्यास के समान ले ली जायगी तो वह नाटक के मर्यादित दायरे में न आ सकेगी जैसा प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' में हुआ है। वह

आधुनिक नाटक के मूल तत्व

सजाई भी इस ढंग से जाना चाहिये कि अरोचक न हो उठे। थोड़ी कथावस्तु प्रयोग में इस प्रकार लाना चाहिये कि वह अभिनय करने में भली भाँति आ सके। पात्रों के संबंध में यह ध्यान रखना चाहिये कि उनके चरित्र-चित्रण पर ही नाटक की पूरी सफलता निर्भर रहती है। पात्रों का चित्रण आदर्श, उच्च, सच्चा, यथावत् हो। उनकी त्रुटियें भी जब दिखाई जावें तो सावधानी के साथ। उनके चरित्र का विकास, ह्रास अथवा उसमें परिवर्तन सकारण होना चाहिए। परिस्थिति जन्य विरोध, वैपरीत्य अवश्य दिखाया जा सकता है। उनके कथन उनके चरित्र पर प्रभाव डालनेवाले और उसे गठित करनेवाले होते हैं। यह बात अलग है कि समय और परिस्थितियों के कारण उनके विचारों में अन्तर पड़ जाय। पात्रों के चित्रण में साम्य हो।

कथोपकथन भी एक मुख्य तत्व है और इस पर तो पात्रों का चित्रण ही पूर्ण रूप से निर्भर रहता है क्योंकि नाटकों में लेखकों को अपनी ओर से कहने की कोई गुंजाइश नहीं रहती। उसे जो कुछ कहलाना होता है, पात्रों को ऊँच-नीच, आदर्श, एवं दुष्ट जैसा वह दिखाना चाहे कथोपकथन के सहारे ही दिखा सकता है। इसी के सहारे वह पात्रों की सहायता से अपने विचारों, सिद्धान्तों और आदर्शों को प्रकट किया करता है। अतएव पात्रों की बात-चीत में यह ध्यान रखना चाहिए कि वह बात-चीत के ही ढंग की हो; संक्षेप में, छोटे-छोटे एवं सार गर्भित वाक्यों में। नपे तुले शब्दों में हो। कथोपकथन लंबा और व्याख्यान के ढंग का न हो। यदि आवश्यकतानुसार लंबा भी रखा जावे तो व्यर्थ का बढ़ा हुआ न हो। देश और काल का भी ध्यान रख कर पात्रों का चित्रण करना अत्यंत आवश्यक है कि अमुक पात्र किस देश में और किस समय हुआ; उस समय देश की क्या अवस्था थी, कैसी वेश-भूषा पहिनी जाती थी; उनका व्यवहार

कैसा होता था आदि-आदि। शैली नाट्यकार की अपनी वस्तु है। उसके भाव-प्रकाशन का मुख्य मार्ग है। इसीसे नाटक-लेखक की प्रतिभा, कला-कुशलता, प्रकृति-निरीक्षण और संसारिक ज्ञान एवं अनुभव का परिचय हमको मिलता है। लेखक की शैली द्वारा ही हम उसकी आत्मा का दर्शन करते हैं। उसके विषय में कोई विशेष सिद्धांत स्थिर नहीं किये जा सकते क्योंकि जैसा लेखक होगा, जैसा उसका विषय अथवा विचार-धारा होगी वैसी ही उसकी भाषा एवं कहने का ढंग होगा। नाटक-लेखक के अन्य काव्यांगों के समान ही कई उद्देश्य हो सकते हैं। नाटक-लेखक नीति, राजनीति, देशभक्ति, धर्म, मानवता, विश्व बंधुत्व आदि कोई विषय चुन सकता है। पर उचित, वास्तविक उद्देश्य उसका मानव-जीवन का आदर्श एवं यथार्थ चित्रण ही है जिसके द्वारा वह असत्य पर सत्य की, अन्याय पर न्याय की, अधर्म पर धर्म की विजय दिखाता है। परन्तु इससे विपरीत बात दिखाना हो तो सावधानी की आवश्यकता है और कुशल कलाकार को ही इस ओर अग्रसर होना चाहिए। नहीं तो अर्थ का अनर्थ होना संभव है। कैसी भी वस्तु ली जाय वस्तु हमेशा सद्भावना संपन्न, सुरुचिपूर्ण, लोकभावना समन्वित एवं कल्याण-प्रद होना ही श्रेयस्कर है। मानव-जीवन में जो सत् असत् जल और मिश्री के समान घुला-मिला है उसका चित्रण करना, स्पष्टीकरण करना भी उसका उद्देश्य हो सकता है। मानव में अनेक विभिन्न विपरीत एवं विरोधी अंतः प्रवृत्तिएँ पाई जाती है। किसी समय उसमें कोई-सी प्रवृति प्रधान रहती है किसी समय कोई अन्य। एक ही मनुष्य में देश, काल एवं परिस्थितियों के कारण वे बदला भी करती हैं।

सन् सत्तावन की रक्त-महाक्रांति के पश्चात् असहयोग-आन्दोलन, एक महान् अहिंसात्मक क्रांति था, जिसने जन समूह की मानसिक दासता

असहयोग-आन्दोलन का हिन्दी-नाट्य-साहित्य पर प्रभाव

का एक बड़े प्रमाण में उन्मूलन किया। जिन लोगों ने इस आन्दोलन के पहिले और पश्चात् के समय का ध्यान पूर्वक अवलोकन किया है वे जानते हैं कि महात्माजी के नेतृत्व में इस महान् क्रांति ने देश का काया-पलट ही नहीं किया था किंतु यूरोपीय, आंग्ल तथा अन्य अभारतीय राष्ट्रों पर भी अपना आतंक और प्रभाव प्रचुर प्रमाण में डाला था। क्रांति की उस लहर ने वह कार्य किया था जो सैकड़ों वर्षों के वैधानिक आन्दोलन से भी नहीं हो सकता था। विचारों में भी उसने एक महान क्रांति कर दी थी। भारत से मानसिक दासता का निष्कासन कर आत्म-शक्ति का प्रादुर्भाव कर दिया था।

उक्त आन्दोलन अथवा महात्माजी के व्यक्तित्व का प्रभाव विशेषतः देश पर तीन प्रकार से पड़ा था; महान् त्याग, देशभक्ति एवं हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य के रूप में। असहयोग आन्दोलन के पश्चात् के लिखे हुए नाटकों में भी ये भावनाएँ प्राप्त होती हैं। उस समय के जनप्रिय नाटकों की तो बात ही अलग है किन्तु शुद्ध साहित्यिक नाटकों में भी इन भावनाओं का प्रभाव जो उस समय समस्त देश में वायु के समान व्याप्त हो गया था, लक्षित होता है। 'प्रसाद' सा शुद्ध साहित्यिक, कवि-हृदय, दार्शनिक और साहित्यिक कल्पना का कलाकार नाटक-लेखक भी इन्हीं की 'भारत एक और अखंड है', इस भावना को बड़ी तीव्रता से व्यक्त करता है। पण्डित बदरीनाथ भट्ट ने भी इस आन्दोलन के पहिले के ढंग पर इस भावना को आश्रय दिया है। इसके प्रभाव से मुक्त यदि कोई नाटक लिखे गये तो वे कृष्णार्जुन-युद्ध, वरमाला आदि हैं किन्तु ये लेखकों की उक्त आन्दोलन के पहिले की कृतिएँ ज्ञात होती हैं। बाद

के प्रायः सब नाटकों में प्रथम स्थान देशभक्ति की भावना का है। इस भावना से प्रायः प्रत्येक नाटक ओत-प्रोत है। प्रायः प्रत्येक नाटक में कोई न कोई पात्र ऐसा होता है जिसे स्वदेश का ख्याल रहता है। वह भूलता नहीं है कि भारत एक ही महाराष्ट्र है और उसके प्रति प्रत्येक व्यक्ति का क्या कर्तव्य है। इसी प्रकार महान् त्याग की भावना साहित्य के विभिन्न अंगों में केवल नाटक ही मे नहीं भारतीय जीवन में ही समा गई है। हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की भावना कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट रूप से साहित्यिक वातावरण मे अपना काम करती रही है। किन्तु धर्मांधता, कट्टरता, अज्ञानता एव स्वार्थ-प्रियता के कारण भारतीय-साहित्य में यह भावना यथोचित रूप में पनप नहीं पाई है; यद्यपि मंदगति से अपना पथ अवश्य प्रशस्त करती रही है।

उक्त तीन भावनाओं का उज्ज्वल स्वरूप पूर्ण रूप से हमें क्रमशः 'महात्मा ईसा' (उग्र), 'प्रताप-प्रतिज्ञा' (मिलिंद) एव 'रक्षाबंधन' (प्रेमी) में मिलता है। उस महान् क्रान्ति के पश्चात् के इस युग की ये तीन प्रधान भावनाएँ रही हैं और उदाहरण के लिए इस दृष्टि से ये तीन कृतिएँ ही प्रतिनिधि रचनाएँ हम मान सकते हैं जो इस युग की मूल भावनाओं की समुचित रक्षा करती हैं और उन्हें पूर्णतया व्यक्त करती हैं।

'महात्मा ईसा' उस समय लिखा गया था जब असहयोग-आंदोलन अपने प्रकाश से भारत के कोने-कोने को उज्ज्वल कर चुका था। उस समय भारतवर्ष में, एक वर्ष मे, महात्माजी ने विद्युत् का संचालन कर दिया था और ऐसा ज्ञात होने लगा था कि भारतीय अपने जन्मसिद्ध अधिकार को अब प्राप्त ही करनेवाले हैं। महात्माजी का महत्व साधारण जनता में राम-कृष्ण के समान माना जाने लगा था। एक महान् आत्मा,

एक महान् आत्माओं की विभूति तो उन्हें विश्व भी मानने लगा था। एक पाश्चात्य विद्वान् द्वारा वे 'ईसा मसीह के पश्चात् के सबसे बड़े महापुरुष' थे। वे भारत के जीवन में व्याप्त और बिखर चुके थे। उनके त्याग और तपस्या ने सबको अभिभूत कर लिया था। उनके इस त्याग का प्रभाव भारत के सभी अङ्गों पर पड़ा था। एक गांधी ने देश में सैकड़ों गांधी उत्पन्न कर दिये थे और उन गांधियों की संख्या बढ़ती जा रही थी। शासन के समक्ष वे विद्रोही थे। वह केवल एक गांधी से डरता था। उसके संबंध में लिखा या बोला जाना उसे सह्य नहीं था। उस समय की परिस्थिति का अनुभव नव पीढ़ी नहीं कर सकती। उस समय महात्माजी का नाम, गांधी टोपी और खादी आदि विद्रोह के चिह्न थे। फलतः महात्मा गांधी के चित्रांकण के स्थान पर 'महात्मा ईसा' का चित्रांकण अनिवार्य था। 'उग्र' जी के हृदय की वह राष्ट्रीय, त्याग समन्वित राजनीति और गांधीजी की ओर से अवरुद्ध धारा साहित्य के क्षेत्र में 'महात्मा ईसा' के रूप में प्रकटित हुई।

उस समय उक्त आन्दोलन के आवेग के कुछ कम हो जाने पर एक नन्हीं-सी विचार धारा और प्रवाहित हुई थी जो लोकमान्य तिलक के 'गीता रहस्य' के प्रभाव से उद्गति हुई थी। वह थी गीता और भगवान् कृष्ण के महत्व वृद्धि के रूप में। महात्माजी का नाम भी मोहन-दास है और कृष्ण तो मोहन थे ही। रूप, रङ्ग तो एक है ही तथा धर्म और राजनीति का एकीकरण भी दोनों में समान रूप से पाया जाता है। इसी समय क्राइस्ट कृष्ण का ही एक आंग्ल नाम था ऐसा एक विद्वान् सिद्ध कर रहे थे। उन्होंने यह भी सिद्ध किया था कि महात्मा ईसा भारतवर्ष में आये थे। उन्होंने बनारस में शिक्षा पाई थी और वहाँ से लौट कर अपने देश में मानव हित का कार्य प्रारम्भ किया था। भारतीय-संस्कृति, सभ्यता और शिक्षा के कारण ही महात्मा ईसा महात्मा ईसा

हो सके थे। उनमें पाश्चात्य यूनानी अथवा रोमी प्रभाव लक्षित नहीं होता है और न वे उक्त सभ्यता और संस्कृति की ही उपज थे।

'उग्र' जी के महात्मा ईसा में भी हमें यही विचार-धाराएँ प्रवाहित होती हुई लक्षित होती हैं। ईसा अपने देश का उद्धार करने के लिये भारत में ज्ञान प्राप्ति के लिये आते हैं। उस समय विश्व की सभ्यता और संस्कृति, ज्ञान और विज्ञान का केंद्र भारतवर्ष ही था। इसीलिए स्वजाति बांधवों की, मानव की सामुहिक रूप से सेवा करने के लिये भारत में उनके लिये आना आवश्यक हुआ। यहाँ जब तक ईसा ज्ञान अनुभव प्राप्त कर अपने में महानता के अंकुर प्राप्त करते हैं तब तक यहूदिया में पिता योहन उनके लिये, उनकी विश्वात्मा के लिये, उनके महान् त्याग के आदर्श के लिये भूमि तैयार करते हैं। हेरोद और हेरोदिया के अत्याचार और विलास प्रियता पाप के घड़े को भरते जाते हैं। उस समय समस्त देश के अत्याचार के प्रतीक ये ही थे यद्यपि समस्त देश अज्ञान और अमानविक क्रियाओं से भरा हुआ था। उस समय 'सत्य बोलना ही राजद्रोह' था। राम के वनवास के समान ईसा भी इन्हीं उच्च भावनाओं से प्रेरित होकर ही भारत में आये थे अथवा भेजे गये थे। उनका जीवन ही मानव समाज के बलि देने के लिये हुआ था। जब ईसा भारत में थे और बारह वर्षों तक अध्ययन कर चुके थे तब उनकी माता मरियम उन्हें देखने के लिये व्यग्र हो उठती है। उसका मातृहृदय पुत्र वियोग में विह्वल हो जाता है तब उसका स्वामी उसे प्रबोध देता है। ईसा का जन्म क्यों हुआ है, यह उसे समझा रहा है। "यह कर्तव्य की पुकार है, जन्म भूमि की पुकार है! इसका अपमान नहीं किया जा सकता है। इसकी आज्ञाओं के सम्मुख सिर झुकाना ही पड़ेगा। (ठहरकर) ईसा को हमने धर्म पिता की आज्ञानुसार आर्य भूमि

उग्र का 'महात्मा ईसा'

भारतवर्ष में भेज दिया है। बारह वर्ष व्यतीत हो गये वह वहाँ पर इसी यज्ञ में बलिदान दिये जाने के लिये शुद्ध किया जा रहा है। मेरा पुत्र स्वदेश पर बलिदान चढ़ने के लिये तैयार हो रहा है।" (अं १,६.४)। इसी कथन का समर्थन आगे जनता को जागृत करते हुए योहन भी करता है। "पुत्रो ! सतर्क रहो। पुआॅल के ढेरों के बीच में एक चिनगारी उत्पन्न हो गई है जो कि देखते ही देखते भीषण अग्नि का रूप धारण कर लेगी। सावधान"। अं० १, ६ ६)। "वह एक सुंदर गुलाब है जिसे खिलने तक संसार के क्रूर करों से बचाने के लिये परमात्मा ने इन कंटकों के आश्रय में छोड़ दिया है। वह ज्योंही खिल जायगा। परम पिता के चरणों पर अर्पण कर दिया जायगा।"

इधर ईसा के इस प्रकार के संदेश की प्रतीक्षा की जा रही थी उधर ईसा विवेकाचार्य द्वारा महान् त्याग और सेवा की शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। उनकी महिमा का दिग्दर्शन विवेकाचार्यजी इस प्रकार कराते हैं

"आकाश की तरह अनंत, हिमालय की तरह दृढ़ और भागीरथी के जल की तरह स्वच्छ ..... उस त्याग का वर्णन नहीं हो सकता त्याग मार्ग पर चलने में सफलता अपने और पराये का भेद भूल जाने से छोटे और बढ़े का विचार छोड़ देने से और संसार भर को अपना कुटुम्ब मान लेने से मिलती है।"

इसी त्याग और सेवा का 'गुरु मंत्र' लेकर ईसा स्वदेश लौटे। जिस प्रकार महात्माजी भी भारत को एक नव्य संदेश लेकर आये थे। ईसा और महात्माजी के संदेशों, कार्य प्रणालियों, आदर्शों, त्याग, सेवा, धर्म प्रेरित राजनीति आदि में भी पूर्ण समानता है। शायद दोनों देशों की तत्कालीन परिस्थितियाँ और वातावरण भी समान हैं। ईसा पीटर को कर्तव्य करने की प्रेरणा करते हुए कहते हैं "तुम्हारे देश में अत्याचारी तथा सत्ताधारी दल अत्याचार का डमरू बजाकर ताण्डव नृत्य कर रहा

है।"........."चुप रहो ! सब तुम्हारे भले के लिये किया जा रहा है" कहकर प्रजा पर वज्रपात हो रहा है। "चारों ओर अत्याचार और आतंक फैला हुआ है।" ऐसी परिस्थिति में ईसा का उपदेश है। "प्राणों की चिंता मत करो।" तुम एक दरिद्र ग्रामीण के वेश में कर्मक्षेत्र में उतरना। अपनी सेवाओं का पुरस्कार मनुष्यों से कभी मत लेना।" "पिता की आज्ञा पुत्र की आत्मा के विरुद्ध है तो उसे चाहिये वह अपने पिता से नम्र शब्दों में असहयोग करदे। मैं यही कहता हूँ कि 'देश भर को सत्याग्रह के लिये तैयार करो। असहयोग, सत्याग्रह करते समय सबों के कानों पर अहिंसा उपदेश की झंकार झंकृत कर दो। विपक्षी तुम्हारी बड़ी ही दुर्चर्या करेंगे। तुम्हें अपनी अदालतों को सौंपेंगे जहाँ पर तुम्हारे ऊपर झूठे-झूठे दोषारोपण होंगे।" "विपक्षियों को मेरे नाम से भी बैर हो जायगा।" तब "तलवार तो अवश्य ही चलेगी। तुम देखोगे एक ओर आत्मा की पुकार पर मरनेवालों की खुली छातियाँ होंगी और दूसरी ओर एक से एक भीषण प्राण-नाशक यंत्र। ऐसी स्थिति में रक्त की नदियों का बहना निश्चित है। भाई ! हम मरेंगे पर किसी को मारेंगे कदापि नहीं।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनमें असहयोग की आत्मा उच्च स्वर से बोल रही है।

महात्मा ईसा के साथ भारतीय संस्कृति की प्रतीक 'शान्ति' का संपर्क नाटक में सरसता, सुरुचि, भारतीय और यहूदी संस्कृति का सम्मिलन एक यहूदी संस्कृति पर भारतीय संस्कृति की छाप का सूचक है। यह केवल मानसिक या काल्पनिक ही नहीं है किंतु इसमें तथ्यांश भी है।

अब तक हिंदी-साहित्य में जितने नाटक महाराणा प्रताप पर निकलते हैं उन सब में प्रताप-प्रतिज्ञा का बहुत ऊँचा स्थान है। शायद ही

'मिलिन्द जी' का 'प्रताप-प्रतिज्ञा'

कोई पृष्ठ ऐसा निकले जिसमें कोई कहावत, कोई मुहावरा, भाषा का सौंदर्य, ओज, भाव-भंगी, संस्कृति, सूक्तिएँ, भाषा का धारावाहिक प्रवाह, जातीयता एवं स्वाधीनता के भाव न हों। महाराणा प्रताप भारतीय साहित्य की वह निराली विभूति हैं जो चिरकाल तक पराधीनता में स्फूर्ति और उसके पश्चात् अपने सिद्धान्तों पर मर मिटने की अमर अभिलाषा पैदा करेगी। ऐसे ही महापुरुष का चित्रांकण इसमें बड़ी खूबी के साथ किया गया है। राजपूत जाति की वीरता, स्वाधीनता एवं स्वदेश-प्रेम का यह जीवित चित्र है। इसके शब्द-शब्द में जादू है। हृदय में उबाल पैदा करने की ताकत है। भाषा इतनी ओजपूर्ण और मंजी हुई है कि 'प्रसाद' के सिवाय अन्य किसी नाट्यकार की कृति में देखने को नहीं मिलती। 'प्रताप-प्रतिज्ञा' स्वाधीनता के मद से भरे हुए एक युवक की अटल प्रतिज्ञा है। इसके भाव लेखक के हृदय-तल से निकले हैं।

साथ ही इसकी विशेषता यह भी है कि इसमें बड़ी सुन्दरता के साथ स्त्री-पात्र का अभाव किया गया है। यह सरलता से रंगमंच पर अत्यल्प समय में, बिना काट-छाँट किये खेला जा सकता है। इसमें साहित्यिक हास्य का भी अच्छी तरह समावेश किया गया है। प्रताप के समान 'प्रताप-प्रतिज्ञा' भी हिंदी-साहित्य की अमर विभूति है।

इसमें इस युग की भावना पूर्ण रूप से व्यक्त हुई है। उस समय जैसी वाक्य-प्रणाली प्रचलित हो गई थी, शब्दों में जैसा जोश, धारा-वाहिकता, पुनरुक्ति एवं वजन आ गया था वह सब सार रूप में 'प्रताप-प्रतिज्ञा' में जैसे उज्ज्वल और भव्य रूप में समा गया है। इस युग की भारतीय भावना, प्रत्येक भारतीय में व्याप्त राष्ट्रीयता की आत्मा इस अमर कृति में स्पष्ट और साकार हो गई है। उस समय यह 'एक वर्ष'

में स्वराज्य' की घोषणा सफल होती दिखाई देने लगी थी। वही तो हम देखते हैं कि 'प्रताप' अपने अंतिम लक्ष्य तक पहुँच रहे हैं। उस युग के बाद वह उबाल जैसे ठंडा हो गया हो, निराशा में परिणत हो गया हो, वह 'अमरसिंह' के चरित्र में दिखाई देता है।

कतिपय पात्रों को छोड़ कर 'प्रताप-प्रतिज्ञा' का प्रत्येक पात्र राष्ट्रीय विचारों का पोषक है, राष्ट्रीयता एवं भारतीयता के समक्ष अपना मस्तिष्क नत कर देता है। सब पात्रों में जैसे राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भर गई है। विरोधी पात्र अथवा विरोधीपक्ष के वातावरण में रहनेवाले पात्र भी उसी राष्ट्रीयता अथवा भारतीय केन्द्र-बिंदु की ओर अग्रसर होते दिखाई देते हैं। यही तो असहयोग के समय की विशेषता थी। देश भक्तों की एक सेना ही नहीं तैयार हो गई थी, किन्तु भारतीय सरकारी कर्मचारियों में भी राष्ट्रीयता एवं भारतीय अभिलाषाओं से प्रेम हो गया था, सहानुभूति हो गई थी। वह युग भारत के लिये एक महा दान था। 'महात्मा ईसा' में जैसे हमने गाँधी पाया है, वैसे ही 'प्रताप-प्रतिज्ञा' में उस युग का सार अंतर्हित है। 'महात्मा ईसा' में उस युग का प्राथमिक आभास अथवा दर्शन है। 'प्रताप-प्रतीज्ञा' में उस युग की आत्मा-निवास करती है। इसमें आत्मा के अनुरूप भाषा का शरीर भी प्राप्त हो गया है। 'मिलिंद' जो उस युग की भावना को समुचित रूप से व्यक्त कर केवल इसी एक नाटक को लिख कर भी सफल नाटककारों की श्रेणी में आ जाते हैं।

प्रताप त्यागी है, वीर है, योद्धा है; उसमें स्वदेश के प्रति अटल अनुराग है। पिता ने जब जगमल को राणा बना दिया तो उसे इसका कुछ रंज न हुआ, पर उसे चिन्ता यही थी कि मेवाड का उद्धार नहीं हो रहा है। फिर भी उसके मनोभाव हमें वहाँ देखने को मिलते हैं जहाँ वह 'चन्द्रावत' से कहता है कि बिना राणा बने भी प्रत्येक व्यक्ति मेवाड़

का उद्धार यदि वह चाहे तो कर सकता है, क्योंकि उसके प्राणों पर तो उसका अधिकार है। प्रताप दृढ़ प्रतिज्ञ है और अपने कर्तव्य तथा उत्तर-दायित्व को भली भाँति समझता है। उसे आशा नहीं थी कि ताज उसे मिलेगा पर जनता ने जब उसे उसके योग्य समझा तो यह जानते हुए भी कि इसके साथ सहस्रों आपत्तियाँ हैं, उसने उसे स्वीकार कर यह प्रतिज्ञा की कि वह उसके सम्मान की सदा रक्षा करेगा और मेवाड़ का उद्धार करेगा, चाहे प्राणों की बलि क्यों न देना पड़े। इस प्रतिज्ञा का पालन बराबर प्रताप ने अंत तक जान पर खेल कर, बन-बन मारे-मारे फिर कर, स्त्री और बच्चों के कष्ट से दुखी होकर भी किया। हल्दी घाटी का युद्ध यह सिद्ध करता है कि वह कितना बुद्धिमान, रण-कुशल, राज-नीतिक दाव-पेंच और परिस्थितियों को समझनेवाला था। अन्त में उसने जो उद्गार प्रकट किये हैं उनसे उसके स्वदेश के प्रति अटल अनुराग का परिचय मिलता है। वास्तव में प्रताप का चरित्र सर्वोत्कृष्ट है और वीरता तथा साहस से भरा हुआ है।

दो स्थल ऐसे हैं जिनसे उसमें कुछ दोष का आभास मिलता है। एक तो वह जब शिकार के लिए उसका शक्तसिंह से झगड़ा होता है। इससे तत्कालीन राजपूत जाति की मनोवृत्ति का परिचय मिलता है कि किस प्रकार दो वीर योद्धा राजपूत जरासी बात पर मरने-मारने को तैयार हो जाते या आपस में अटल विरोध की भावना को प्रश्रय दे देते थे। इसमें दोष दोनों का था। प्रताप राजाज्ञा के नाम पर और शक्त समानाधिकार के नाम पर झगड़ता था। शक्त का कर्तव्य था कि वह राजाज्ञा का पालन करता और प्रताप का कर्तव्य था कि वह शक्त को प्रेम से समझाता और अपना विरोधी न होने देता। अकबर के मुँह से लेखक ने इसी भूल को कहलवा भी दिया है कि "प्रताप अपनों को दूसरा बनाना खूब जानता है।"

दूसरी कमजोरी, कुछ लोग मान सकते हैं, वहाँ है जहाँ प्रताप अपने बच्चों के कष्टों से हार कर अकबर को पत्र लिखता है। पर इस घटना से उसके चरित्र की कमजोरी नहीं जाहिर होती; बल्कि यह प्रकट होता है कि मानव-स्वभाव पर अपने कारण नहीं, अपने स्त्री-बच्चों के दुःख के कारण कितना गहरा धक्का पहुँचता है। इससे प्रताप-सा दृढ़ प्रतिज्ञ भी विचलित हो गया। यह मानव-स्वभाव की कमजोरी नहीं, यथार्थ चित्रण है। कमजोरी तो तब होती जब 'प्रताप' इस धक्के से सँभलता नहीं, गिर जाता, अकबर की वश्यता स्वीकार कर लेता। पर नहीं, वह सँभल गया और सँभल जाने से उसका चरित्र और उज्ज्वल हो गया। यही उसकी महानता है, गौरव की वस्तु है। यही चरित्र के विकास की चरम सीमा है।

इसी प्रकार जगमल-सा विलासी और मदांध राजा भी देश की, मेवाड़ोद्धार की भावना पर नत-मस्तक हो जाता है। वह कायर और आलसी अवश्य था पर अपनी कमजोरियों को भी जानता था। अन्त में चन्द्रावतसिंह के राजमुकुट माँगने पर उसका सरलता से राज-मुकुट का मोह त्यागना यह सूचित करता है कि उसमें भी वही रक्त प्रवाहित हो रहा था जो उसके पूर्वजों में था। मुकुट देने के पश्चात् उसके देश-भक्ति पूर्ण उद्गार उसमें चरित्रहीनता और कायरता होते हुए भी सराहनीय हैं। शक्तसिंह भी एक वीर योद्धा है; साथ ही साथ वह स्वाभिमानी भी है। राजपूत जाति जिस बात के लिये प्रसिद्ध है उसका शिकार वह भी है। इसीलिये शिकार पर लड़ने को उद्यत हो जाता है और 'प्रताप' जब उसे देश निकाले का दंड देता है तो वह अकबर के पास चला जाता है। यहाँ अवश्य उसमें मानविक कमजोरी पाई जाती है। पर इस दोष को उसका देशभक्ति से परिपूर्ण हृदय सहन नहीं कर पाता है।

उसे बारबार इसी भूल का पश्चात्ताप हो रहा है। इसका चरित्र भी बड़ा स्वदेश प्रेमी चित्रित किया गया है। उसे बार-बार मेवाड की याद आती है और जब युद्ध में प्रताप को, पीछा किये जाने पर, असहायावस्था में देखता है तो उसका मातृ-प्रेम एकदम उमड़ आता है और उसके पश्चात् तो वह साधु बनकर देश भर में जनता को जाग्रत करता पाया जाता है। अमरसिंह एक वह राजकुमार है जिसकी वासनाएँ अतृप्त हैं। जो युद्ध आदि भयानक कार्यों से घबराता और दार्शनिक विचारों द्वारा अपनी अकर्मण्यता को छिपाना चाहता है। उसके अन्दर न तो स्वदेश प्रेम ही है और न कर्तव्य शीलता ही। 'प्रताप' की मृत्यु के पहले न पहुँच पाना भी 'प्रताप' की ओर से उसकी उदासीनता प्रकट करता है। 'सामंत' प्रताप का सच्चा मंत्री है। समय-समय पर इसने प्रताप को सच्ची सलाह ही न दी वरन् उत्तजना साहस और कर्तव्य सुझाया है। यह योग्य, सदाचारी, उत्साही और कर्तव्य परायण है। पुरोहित का त्याग प्रशंसनीय ही नहीं आदर्श भी है। उसका त्याग स्वदेश-प्रेम और बलिदान अमरता प्राप्त करने के लिये पर्याप्त है। उसी के बलिदान से प्रताप और शक्त की नंगी तलवारें म्यान के अन्दर जा सकी। भीलराज एक कर्तव्य-परायण और 'प्रताप' का सच्चा अनुयायी है। स्वजाति स्वभाव के अनुसार वह ईमानदार और सच्चे सेवक के रूप में हमारे सामने आता है जिसने गाढ़े वक्त में 'प्रताप' की और उनके स्त्री-बच्चों की रक्षा की। भामाशाह के जीवन की 'प्रताप प्रतिज्ञा' में केवल एक 'झलक' है। अन्य पात्रों के समान उसमें भी उत्कृष्ट देश-प्रेम है। जीवन भर की संचित संपत्ति समय पर दे डालना एक सेठ का सच्चा आदर्श त्याग है। जिसने 'प्रताप' के साथ उसे भी अमरत्व प्रदान किया है।

'प्रताप' के बाद यदि किसी का चरित्र महत्त्वपूर्ण है तो वह चंद्रावतसिंह का ही है। वह स्वदेश-भक्त, वीर त्यागी ही नहीं, प्रजा का सच्चा

हितैषी है। मेवाड़ का हित उसकी रग-रग में छाया हुआ है। वह मनुष्य को पहिचानता है और इसी कारण प्रजा की भलाई के लिये उसने 'प्रताप' को ही उपयुक्त पात्र चुना, उसी ने साहसपूर्वक जगमल के सिर से मुकुट उतार प्रताप के सिर पर रखा। वह प्रजा की भलाई के लिये पैदा हुआ, जीवन भर उसी में लगा रहा और उसके जीवन का अन्त भी एक अन्तः प्रेरणा से ही हुआ। 'प्रताप' के लिये अपने प्राणों की आहुति दे देना अनुपम त्याग था, अलौकिक स्वामि-भक्ति थी और थी प्रजा-हितैषिता की अमर भावना। सचमुच में चंद्रावत का चरित्र दोष रहित पवित्र और अत्यंत उज्ज्वल चित्रित हुआ है। संजमराय से इसकी तुलना की जा सकती है। वह प्रजा का सच्चा प्रतिनिधि, कर्तव्य-परायण, वीर, योद्धा, बुद्धिमान, प्रत्युत्पन्नमति और अनुपम त्यागी है। विजयसिंह एक अष्टवर्षीय बालक है। उसमें भी चंद्रावत का रक्त बह रहा है। वह वीर पिता का वीर पुत्र है। पृथ्वीसिंह किसी कारण से यद्यपि अकबर का राजकवि है, पर उसके अन्दर भी राजपूत जाति-गौरव भरा हुआ है। वह स्वजाति और स्वदेश से प्रेम करता है और प्रताप को पत्र लिख कर तो उसने अपने कवि कर्तव्य की पूरी रक्षा की है।

इस प्रकार हम देखते हैं स्वदेश प्रेम की व्यापक भावना भारत में व्याप्त हो गई थी। प्रत्येक भारतीय क्या बालक, क्या वृद्ध, इससे ओत-प्रोत था। वही भावना 'प्रताप-प्रतिज्ञा' के प्रत्येक पात्र में पूर्ण रूप से लक्षित होती है। देश को उस समय एक उच्च कोटि का उत्थान मिला था। वह महात्माजी के नेतृत्व और कार्य कुशलता के कारण आत्मिक स्वतंत्रता, दृढ़ता तथा खोया हुआ तेज पा चुका था। वही सब किसी न किसी रूप में इसमें भी, इसके प्रत्येक पृष्ठ में, प्रत्येक पंक्ति में प्रत्येक शब्द में प्राप्त होता है।

'प्रताप-प्रतिज्ञा' के अनुकरण पर लिखा हुआ 'रक्षा-बन्धन' हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना से ओतप्रोत है। असहयोग-आन्दोलन के समय नवीन रूप में इस भावना का उद्भव हुआ और समस्त भारत में इसकी आवश्यकता समझी गई। जहाँ स्वतन्त्रता की आकांक्षा अथवा परतंत्रता से मुक्ति की भावना प्रबल हो उठी थी, वहाँ गौण रूप से हिंदू-मुस्लिम ऐक्य इस युग की एक अनिवार्य आवश्यकता हो उठी है और शायद तब तक बनी रहेगी जब तक कि हिंदू-मुस्लिम भारतीय बन कर सिरफुटौवल को समाधिस्थ नहीं कर देंगे। इस भावना का मंजुल और स्पष्ट रूप हमें 'रक्षा-बन्धन' में मिलता है। इसी को व्यक्त करने के उद्देश्य से ही इसकी रचना हुई है। चाँदखाँ और विक्रमादित्य के कथोपकथन में इसी का समर्थन सुन्दरता से किया गया है और पश्चात् की सामग्री इसी कथन की रक्षा, संवर्द्धन, निर्वाह और पिष्टपेषण है। जब चाँदखाँ मेवाड़ की प्रशंसा करता हुआ कहता है, "यहाँ के सुबह जिंदगी का गीत गाते हुए आते हैं, यहाँ की शाम हमदर्दी की तान छोड़ती हुई जाती है, यहाँ की रात राहत की सेज बिछाती हुई आती है। तभी तो दुनियाँ इसे लालच की निगाह से देखती है, तभी तो आये दिन इसे दूर दूर के शाही लुटेरों का मुकाबिला करना पड़ता है!" तब विक्रमादित्य उत्तर देता है, "असल में चाँदखाँजी, प्रकृति का उपयोग करने के लिये खून बहाने की जरा भी जरूरत नहीं! वह तो माँ की तरह गरीब और अमीर सभी को अपना आँचल हिला कर बुलाती है! शाहजादा साहब! यह तो स्वार्थ का राक्षस है, जो हमारे हृदयों में बैठ कर हम से एक-दूसरे के गले पर छुरी चलवाता है।" इसी का समर्थन आगे होता है। चाँदखाँ आप ठीक कहते हैं महाराणा! हम यह नहीं चाहते कि हमारे भाई भी खावें। हम तो यह चाहते हैं कि हमी खावें और सारी दुनियाँ

'प्रेमीजी का 'रक्षा बन्धन'

भूखों मरे। जब तक हम हाथी पर बैठ कर नहीं निकलते और दूसरों को पैदल घिसटते नहीं देखते, तब तक हमें बड़प्पन का मज़ा ही नहीं आता। विक्रम आप भी मुसलमान हैं और बहादुर शाह भी फिर एक मुसलमान दूसरे मुसलमान का गला क्यों काटना चाहता है। वास्तविक अर्थों में धर्म से धर्म की लड़ाई किसी भी युग में नहीं हुई। हमेशा एक स्वार्थ से दूसरा स्वार्थ लड़ा है। मैं और आप जब दोस्त बन कर रह सकते हैं, तो क्या सबब है कि मेरे और आपके धर्म यहाँ भाई-भाई की तरह गले में हाथ डाल कर न रह सकें? विक्रम मेरे भाई! मैं फिर कहता हूँ और सच बात भी यही है कि मजहब आपस में नहीं लड़ते कुछ व्यक्तियों के स्वार्थ लड़ा करते हैं। गरीब और ईमानदार आदमी हिंदू हो या मुसलमान—हमेशा अपने पडोसियों से मिलकर रहे हैं और रहेंगे।"

इसी में हिंदू-मुसलिम-समस्या का कारण, उस कारण की उत्पत्ति का विवेचन, उसके निराकरण के उपाय और हल बडो ही खूबी तथा सुन्दरता से दिखाये गये हैं। ऐसी कौन-सी प्रवृत्तिएं हैं जो दोनों को लडाया करती हैं। जन समूह उनका कहाँ तक साथ देता है। नेताओं के स्वार्थ कैसे सिर-फुटौअल के लिये जिम्मेदार हैं। इतिहास में किस प्रकार दोनों को नार्मन और आँग्ल लोगों के समान मिलाने का प्रयत्न हुआ है, इसका समुचित साहित्यिक दिग्दर्शन इसमें मिलता है। दोनों की आंतरिक मनोवृत्तिएँ और उन मनोवृत्तियों पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है इसका समर्थन उक्त कथोपकथन से भी भली-भाँति हो जाता है कि हिंदू मुसलमानो के गुणों को देखें, समझें और मुसलमान हिंदुओं के, और सदा के लिये समझ लें कि अब उन्हें इसी देश में जीना-मरना है।

हिन्दी के तीन प्रमुख नाट्यकार

भारतेंदु बाबू का नाट्य-साहित्य

हिंदी-साहित्य का प्रारम्भ ऐसे समय हुआ जब संस्कृत एवं प्राकृत का नाट्य-साहित्य उन्नति के शिखर पर पहुँच कर अवनति की ओर अग्रसर हो गया था। उसमें विद्वत्ता एवं विकृति ने स्थान कर लिया था। फिर उन रचनाओं के खेले जाने के साधन प्राय: लुप्त हो चुके थे। मुस्लिम बाह्य आक्रमणों ने इस काल के लिये कोई क्षेत्र नहीं रहने दिया था। वह एक संक्रांति काल था। फलतः ग्यारहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक कोई उल्लेखनीय नाटक-रचना हमें प्राप्त नहीं होती। हाँ, नाटक-नामक कतिपय कविता-नाटक जो महाकवि तुलसी कृत रामचरित-मानस एवं सूरदासजी के कृष्ण-वर्णन के आदर्श और अनुकरण पर लिखे गये अवश्य प्राप्त होते हैं।

पूर्व भारतेंदु-काल की स्थिति एवं नाटक

बात यह थी कि ग्यारहवीं शताब्दी के पश्चात् भारत पराधीनता की बेड़ियों में अधिकाधिक जकड़ाता गया। उसका न केवल राजनीतिक जीवन ही किन्तु सामाजिक और धार्मिक, गार्हस्थ्य और दैनिक जीवन भी संकटपूर्ण, आपत्तियों से घिरा हुआ और युद्ध समन्वित हो गया। वह एक ऐसी अवस्था थी कि एक भारतीय उस समय सुख की स्वाँस नहीं ले सकता था। यद्यपि प्रारम्भ में एक अवधि के पश्चात् ही आक्रमण होते थे किंतु उन आक्रमणों की रोक की तैयारी में, उनकी आशंका में ही भारत उस समय व्यस्त था। इसलिये उसके जीवन से उस समय

मनोरंजन की भावना प्राय लुप्त हो गई थी। यह एक ऐसी भावना है जो नाट्य-साहित्य को जीवन देती रहती है; उसके विकास में, वृद्धि में सहायक हुआ करती है। अतएव जब यह भावना ही मर रही थी तब हिंदी-नाट्य-साहित्य किस प्रकार पनप सकता या फल-फूल सकता था?

बाद में आवश्यकताओं और शासन की स्थिरता ने हिन्दी-साहित्य में विश्व-कवि सूर और तुलसी की अमर रचनाओं का प्रादुर्भाव किया। उनकी रचनाओं का न केवल हिन्दी साहित्य पर अपितु भारतीय साहित्य पर भी अमिट और व्यापक प्रभाव पड़ा है। इनके पश्चात् का हिंदी-साहित्य इन्हीं का आदर्श और अनुकरण है। इन्हीं के साहित्य की व्यापक झलक, व्यक्तीकरण है। इन्हीं के भावों एवं भावनाओं का वितरण और ग्रहण है। इसीलिये भारतेन्दु बाबू के पहिले जो हिन्दी की मौलिक नाट्य-रचनाएँ हुई हैं वे रामलीला और रासलीला के आधार पर और अनुकरण पर हुईं, क्योंकि सूर-तुलसी के इस व्यापक प्रभाव का फल यह पड़ा कि जब देश में श्मशान-शान्ति के समान शान्ति हुई, कुछ स्थिरता और निश्चितता कुछ अंशों में आई, तब जनता की वही मृत मनोरंजन भावना पुनः जीवित हुई। फलतः कविता-नाट्य-रचनाएँ लिखी गईं। इनका आदर्श रामलीला और कृष्णलीलाएँ थी। इनके लेखकों के नाटक भी छन्दोबद्ध होते थे। क्योंकि सूर और तुलसी की रचनाएँ ऐसे भाव-चित्र हैं और उनमें कथोपकथन के तत्व की इतनी प्रचुरता है कि यदि उन्हें कविता-नाटक की संज्ञा दी जाय तो कुछ अनुचित नहीं! 'प्रबोध-चन्द्रोदय', 'समयसार' आदि नाटक इसी कोटि मे आते हैं। राजा लक्ष्मणसिंह के नाटक इस श्रेणी में नहीं आ सकने क्योंकि वे संस्कृत के अनुवाद हैं, मौलिक रचनाएँ नहीं। किंतु हिन्दी-नाट्य-साहित्य पर विचार करते समय उनके अनुवादों पर इसलिये ध्यान जाता ही है कि उक्त राजा साहब नाटक की मूल भावना

को समझ सके थे। सूक्ष्म रूप से उनके मस्तिष्क में यह बात अवश्य रही होगी कि जो कविता-नाटक, रामलीला और कृष्णलीला के अनुकरण पर बने हैं वे वास्तव में नाटक नहीं हैं और हिंदी-साहित्य को अब 'कम्पनी महाराज' के शासन की स्थिरता में नाटकों की मनोरंजन की

आवश्यकता है और चूँकि वह हिन्दी नाट्य-साहित्य की प्रारम्भिक अवस्था थी जो प्राय अनुवादों से ही शुरू होती है उन्होंने अनुवाद की ओर ही ध्यान दिया। प्रारम्भ में उत्तम रचनाओं के लिखने की क्षमता का अभाव भी प्रायः रहा ही करता है और उच्च कोटि की रचनाओं के पहिले जीवित अथवा मृत ऐसी रचनाएँ अवश्य रहती हैं जिनको देख कर, जिनके दोषों और गुणों का मानसिक विश्लेषण कर कोई महान् कलाकार अमर कृतिएँ देता है। इसलिये राजा लक्ष्मणसिंहजी के अनुवाद हिन्दी नाट्य-साहित्य की प्रारम्भिकावस्था सूचित करते हैं। उनका उद्देश्य नाटकानुवाद के साथ एक विशिष्ट भाषा का नमूना भी उपस्थित करने का था।

इस प्रकार जब भारतेंदु बाबू ने नाटक-लेखन प्रारम्भ किया तब उनके सामने न कोई आदर्श था और न उदाहरण जिसको दृष्टि में रख वे आगे बढ़ सकते। इस समय तक भारतीय रंग-मंचों का भी सर्वथा अभाव था। जनता केवल 'यात्रा', 'कीर्तन', 'रामलीला', एवं 'रासलीला' आदि के ढंग पर नाटकीय प्रदर्शन प्राप्त करती और इन्हीं के अनुरूप अस्थायी रंग-मंच तैयार किये जाते थे और इन्ही से उसे संतुष्ट होना पड़ता था। कवि 'देव' कृत 'देव-प्रपंच', 'माया-नाटक', नेवाज कृत 'शकुंतला', हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' या ब्रजवासीदास कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' आदि नाटकों के साथ नाटक शब्द हैं किन्तु इनमें नाटकीय तत्वों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। गिरिधरदास, भारतेंदु बाबू के पिता, का लिखा हुआ 'नहुष-नाटक' जिसे स्वयं भारतेंदु हिन्दी का

पहिला नाटक मानते हैं ब्रज-भाषा में है। हाँ, नाटक की श्रेणी में आने-वाले केवल राजा लक्ष्मणसिंह के 'अभिज्ञान शाकुंतल' आदि अनुवाद-नाटक अवश्य थे किंतु इस प्रकार के नाटकों का प्रचलन, उनकी शैली का ग्रहण इस समय जब कि बंग-साहित्य पाश्चात्य ढंग की प्रणाली पर एक नवीन शैली को जन्म दे रहा था अश्रेयस्कर होता, आकस्मिक, और समय और जनता की रुचि के विरुद्ध होता। साथ ही कतिपय पारसी कम्पनियों ने पाश्चात्य ढंग, असाहित्यिकता, कुरुचि, एवं नाटकीय विकृति को ग्रहण कर लिया था। ऐसी परिस्थिति में प्राचीन प्रणाली पर--यद्यपि वह पर्याप्त, परिमार्जित, अनुभवित थी —नाटक लिखना कभी रुचिकर नहीं होता। दूसरी बात इन नाटकों की भाषा के संबंध में भी स्मरण रखने योग्य है।इनमें ब्रजभाषा के शब्दों का बाहुल्य है। राजा लक्ष्मण-सिंह के नाटकों मे भी ब्रजभाषा काव्योपयोगी अप्रचलित शब्द हैं और उर्दू अथवा उस समय की प्रचलित भाषा के शब्दों को जान बूझ कर दूर रखने की चेष्टा की गई है। इससे जहाँ भाषा मधुर और शुद्ध हिन्दी कहलाने योग्य हो सकी है वहाँ वह जनोपयोगी भाषा से, जिसकी नाटकों में विशेष आवश्यकता और उपयोगिता रहती है, दूर हो गई है। भारतेन्दु बाबू के आदर्श के यह विपरीत बात थी क्योंकि उनका उद्देश्य केवल नाटक लिखना ही नहीं था किन्तु अपने पूर्व के लेखकों जैसे विशेषकर राजा शिवप्रसाद एव राजा लक्ष्मणसिंह जो कि विरोधी स्कूलों के लेखक थे की रचनाओं का परिमार्जन कर एक सर्वसम्मत प्रचलित भाषा का प्रादुर्भाव भी करना था। राजा शिवप्रसाद उर्दू मिश्रित, अरबी-फारसी शब्द बाहुल्य युक्त भाषा का प्रयोग करते और राजा लक्ष्मणसिंह अरबी-फारसी शब्द रहित शुद्ध भाषा का। इन दोनों प्रकार की भाषाओं के रूप ग्रहण करना संभव नहीं था यद्यपि वे साहित्यिक हो सकती थी।

इसलिए जब भारतेंदु बाबू पर एक नाटक-लेखक की दृष्टि से हम विचार करते हैं तब हमें उक्त परिस्थिति एवं उनके उद्देश्य को नहीं भूल जाना चाहिए। भारतेन्दु बाबू तो उस समय के हिन्दी-नाट्य-साहित्य के समक्ष आदर्श और उदाहरण रख रहे थे जिसका अनुकरण, वृद्धि, विकास करना एवं पूर्ण कलात्मक रूप देना उनके तत्कालीन अन्य लेखकों एवं बाद में होनेवाले लेखकों का काम था। उनका उद्देश्य नाटक-लेखन के अतिरिक्त प्रहसन, गीतिरूपक, नाट्यरासक आदि नाटक प्रकारों के उदाहरण सामने रखने का भी था जिसका अनुकरण उनके बाद के लेखक करें। ऐसी अस्पष्ट भावना अवश्य उनमें थी। इसीलिए विभिन्न प्रकार की नाट्यरचनाएँ उन्होंने लिखीं और प्रारम्भ में अनुवाद कीं। जब संस्कृत नाटकों के अनुवाद से भी उनको अपनी इच्छा पूर्ति होते दिखाई नहीं दी तो उन्होंने जहाँ से और जैसे हो सका हिन्दी-नाट्य-साहित्य की पूर्ति करना प्रारम्भ कर दिया; क्योंकि इस लेखक को, इस सर्वतोमुखी प्रतिभा संपन्न लेखक को जिसके रोम-रोम में भारत और हिन्दी-साहित्य समाया हुआ था इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था। वह अपने छोटे से जीवन में हिन्दी-साहित्य को इतना संपन्न कर देना चाहता था कि वह बंग-साहित्य और पाश्चात्य-साहित्य के समकक्ष शीघ्र हो सके और यदि उसी के समान प्रतिभाशाली कुछ लेखक और हुए होते तो अवश्य उसके बाद शीघ्र ही हिन्दी-साहित्य भी रंक न रह जाता। जिन अभावों के लिए हमें दुःख होता है उनकी पूर्ति बहुत पहिले हो गई होती। इस महान् लेखक ने न केवल नाटक लिखे, अपितु निबंध लिखे, कविता लिखी, इतिहास लिखा, ऐतिहासिक खोज की और उसके वश रहते क्या नहीं किया? इसीलिए भारतेंदु के अल्पकालीन नन्हें जीवन पर जब हम

भारतेंदु बाबू की नाट्य-कला का विवेचन

ध्यान देते हैं तब उनकी रचनाओं में पायेजानेवाले समस्त दोष हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं और उसके समक्ष सहसा हमारा मस्तक नत हो जाता है।

भारतेंदु बाबू की नाट्य रचनाओं पर विचार करते हुए उनकी रचनाओं में हम शास्त्रीय दोषों को देखकर चौंकें नहीं। संसार के शुरू से यही चला आ रहा है कि प्रथम रचनाओं की सृष्टि होती है, क्रमशः उन्नति होती रहती है और उनके पश्चात् उन्हीं के गुण-दोषों को देखकर अनुभव कर कतिपय सर्व सम्मत नियमों की जो मानव-प्रकृति और मस्तिष्क के अनुकूल हों, देश काल का जिनमें व्याघात पैदा न हो सके, निर्माण किया जाता है। फिर हिंदी साहित्य में तो नाट्य-रचनाएँ ही नहीं थीं, शास्त्रीय विवेचन और नियम कहाँ से आते? रंगमच ही न थे, फिर प्रत्यक्ष अनुभव किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता था? संस्कृत-बंग अथवा आंग्ल भाषा के साहित्यों की ओर लक्ष्य कर हम उनकी रचनाओं में दोषों का प्रादुर्भाव करें यह उचित प्रतीत नहीं होता। संसार की प्रारंभिक अवस्था में जैसा मैं पहिले लिख चुका हूँ और जब कि नाट्य रचनाओं को साहित्यिक रूप भी प्राप्त नहीं हुआ था तब तो लोग रात-रात भर एक-एक दो-दो दिन की ही घटनाओं को देखा करते और संतुष्ट तथा प्रसन्न हुआ करते थे। आज भी गाँवों में ग्राम्यबन्धु साधारण सी घटनाओं के प्रदर्शन, अत्यंत साधारण मनोरंजन (हम नागरिकों की दृष्टियों से यदि विचार किया जाय) के लिये गाते-गाते, अत्यंत साधारण नाटकीय प्रदर्शन करते-करते रात-रात भर बिता देते हैं। उनके सामने ही पात्र वेष-भूषा सजते उसे भी ग्राह्य समझ लेते हैं। बालकों में भी यही प्रवृत्ति प्रायः देखी जाती है। यह बाल-प्रवृत्ति के नाम से साहित्य में पुकारी जानी चाहिये और उस समय के उनके द्वारा ही नवोदय साहित्य में यदि इस प्रकार बाल-प्रवृत्ति दिखाई दे तो वह दोष

नहीं प्रत्युत विकास की एक प्रारंभिक अवस्था मानी जानी चाहिये। यह अवश्य है कि भारतेंदु बाबू ने नाटकों पर निबंध भी लिखा अथवा लिखवाया है; किंतु यह भी प्रसिद्ध है कि वह निबंध उनका लिखा हुआ नहीं है। जैसे वे नाटक लिखकर पथ प्रदर्शन करना चाहते थे और नमूने की रचनाएँ उपस्थित करने का ध्येय रखते थे उसी भाँति किसी काशी के पंडित से ऐसी जन श्रुति है उन्होने वह निबंध इसलिये लिवाया था कि हिन्दी के नाटक लेखकों के समक्ष कतिपय शास्त्रीय नियम भी हों ताकि भविष्य में उनका उपयोग कर वे हिंदी साहित्य को अधिक पुष्ट कर सकें।

भारतेंदु बाबू का अनुकरण एव तत्कालीन लेखक

भारतेंदु के पश्चात् प्राय: प्रत्येक लेखक ने नाटक-लेखन की चेष्टा की। लाला सीताराम ने अनुवाद करने का असफल प्रयास किया, किंतु हिंदी साहित्य में उनके पश्चात् एक ऐसी खाई दिखाई देती है जो यह प्रकट करती है कि उनके पश्चात कुछ अंशों में पं बदरीनाथ भट्ट को एवं कतिपय स्फुट साहित्य रचनाओं को छोड़कर 'प्रसाद' तक कोई समर्थ और सफल नाटक लेखक नही हुआ जिससे हिंदी नाट्य-साहित्य गौरवान्वित हो सकता। उनके पश्चात् तो विकास के स्थान पर ह्रास होना प्रारंभ हो गया। इसीलिये हिंदी नाट्य-साहित्य का विकास बड़े ही अस्वाभाविक बेढगे तौर पर हुआ। उसमें विकास की न तो एक धारा मिलती है और न व्यवस्थित क्रम ही। आगे पं० बद्रीनाथ भट्ट भी इसीलिये नाटय-साहित्य की ओर अग्रसर होकर भी उसकी उन्नति न कर सके, विकास के आगे के सोपान पर न पहुँच सके और कपनियों के नाटकों का अनुकरण कर केवल एक नन्ही सी परिमार्जित रुचि का दिग्दर्शन करा सके। नाटक लिखने ही के लिये नाटक लिख सके और कला का उज्ज्वल रूप, प्रकट न कर सके। इसीलिये

'प्रसाद' सा महान कलाकार भी दृश्य-काव्य की सृष्टि करने जाकर श्रव्य-काव्य की ओर अग्रसर हो गया और ऐसी रचनाएँ हिंदी साहित्य को दे गया जिनका अनुकरण एक समय तक विकास का विरोधी हुआ। उसका अपना और विशिष्ट स्थान अवश्य रहेगा किंतु उसके आदर्श और अनुकरण पर नाटकों की सृष्टि कम हुई और होगी।

भारतेंदु बाबू के दोषों का विवेचन एवं निराकरण

भावों के प्रकाशन के लिये भाषा का क्षमता शाली होना भी आवश्यक है। जब तक भाषा में बल नहीं आता, भाव प्रकाशन का सामर्थ्य पैदा नहीं होता, तब तक कला की चरमाभिव्यक्ति, मनोदशा का यथार्थ चित्रण, आंतरिक, हृदय गत विशिष्टताओं को विश्लेषण, मानवी भावों का स्पष्टीकरण और प्रकटी करण प्रायः असंभव रहता है। उदाहरणवत श्रद्धेय द्विवेदी जी की रचनाओं पर विचार कीजिये। उनकी कविता, निबंधों एवं भाव प्रकाशन को देखिये और उनकी तुलना आज की उन्हीं बातों से कीजिये तो स्पष्ट पता लगेगा कि उनमें कितना अंतर है। किंतु द्विवेदी जी ने कितना किस रूप में और किस समय किया, और उनके पहिले की अवस्था का जब हम विचार करते हैं तो हमें उनका महत्व विदित होता है। यही बात भारतेंदु बाबू के बारे में भी कही जा सकती है। कला की चरमाभिव्यक्ति उनमें नहीं मिलती। बाल शिक्षा और मनोरंजन की प्रवृत्तिएँ ही उनकी रचनाओं में मिलती हैं जो कि स्वाभाविक हैं। टेकनिक की दृष्टि से प्राचीन अथवा आधुनिक उनमें कई त्रुटिएँ मिलती हैं इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि संस्कृत में इस विषय पर पर्याप्त सामग्री थी, पर्याप्त साहित्य था अथवा पाश्चात्य प्रणालिएँ उन्नत हो गई थीं और उनमें प्रौढ, विकसित और कलात्मक साहित्य था और इसीलिये भारतेंदु दोषी हैं। इन प्रणालियों से, नियमों

से अनभिज्ञ ठहरावें। अन्य भाषाओं में साहित्य और शास्त्रीय नियमों के होते हुए भी स्वभाषा में उनका उपयोग और सामंजस्य सहसा और शीघ्र हो जाना सभव नहीं होता। यदि कोई लेखक करना चाहे तो उसका उस समय का प्रयत्न बेकार सा सिद्ध होता है जिसे कहीं से प्रोत्साहन प्राप्त नहीं होता। इनका सर्वथा ग्रहण एकदम नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा हो सके तो विकास जिसे हम कहते हैं उसका अस्तित्व ही मिट जावे। अतएव इन सब त्रुटियों पर केवल इसीलिये विचार नहीं किया जा सकता चूँकि उस समय आंग्ल अथवा बंग-साहित्य काफी उन्नत हो चुका था। यदि आग्ल तथा बंग-साहित्य उन्नत हो चुका था तो उनके पाठकों के विचार-स्तर भी, काफी ऊँचे उठ चुके थे। उस समय हिंदी में तो पाठकों की ही कमी थी। हाँ, उनमें नवीन साहित्य के प्रचार के कारण वृद्धि अवश्य हो रही थी। इसलिये हमें भारतेंदु के नाट्य-साहित्य का विश्लेषण करते समय उनमें पाई जानेवाली प्रवृत्तिएँ ही देखना चाहिये और यह कि वे कितनी स्वाभाविक, सामयिक और विकासानुगामी हैं।

बालकों में स्वभावतः ही यह देखा जाता है कि वे साधारण, निम्न-कोटि की बातों से ही अधिक प्रसन्न होते हैं। उन्हें साधारण मनोरंजन और खिलवाड़ की ही आवश्यकता होती है। विशेषकर ऐसे मनोरजन और अनुकरण अथवा नकल की बातों को जिन्हें वे ससार में पाते हैं, जब वे अभिनय में देखते हैं तो प्रसन्न हो उठते हैं। संसार के आद्य-काल से साहित्य की यही बाल्यावस्था रही है और किसी भी साहित्य में यह देखी जा सकती है। साहित्य की यही बाल्यावस्था हमें भारतेन्दु बाबू में भी प्राप्त होती है। धीरे-धीरे जैसे बालक बड़ा होता

भारतेंदु बाबू में बाल-मनोरजन एव शिक्षात्मक प्रवृत्तिएँ।

जाता है उसमें शिक्षात्मक प्रवृत्ति जाग्रत होती जाती है। उसी प्रकार साहित्य में भी शिक्षात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। साहित्य की इस अवस्था में कलात्मक प्रवृत्ति, अलक्षित, अस्पष्ट होती है; विद्यमान वह अवश्य रहती है। इसीलिए भारतेंदु बाबू के नाट्य-साहित्य में बाल-मनोरंजन एवं शिक्षा की प्रवृत्तिएँ ही पाई जाती हैं। कलात्मक प्रवृत्ति अलक्षित और अस्पष्ट है। यह एक आश्चर्य की बात है कि हिन्दी नाट्य साहित्य के आदि प्रवर्तक होते हुए भी कलात्मक प्रवृत्ति उनमें इतनी अधिक पाई जाती है। कदाचित् इसका कारण, श्रेय उनकी प्रतिभा और संस्कृत एवं बंग-साहित्य के अनुशीलन को है।

किसी भी साहित्य के प्रारंभ में एक बात और देखी जाती है और वह यह है कि उसके प्रवर्तक इस समय बाह्यरूप का ही चित्रण करते हैं या कर सकते हैं। भारतेंदुजी ने भी यही किया है। इसका होना सर्वथा स्वाभाविक है, दोष नहीं।

भारतेन्दु बाबू में इन्हीं प्रवृत्तियों के समान स्वविचार-प्रकाशन की प्रवृत्ति भी पाई जाती है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' मे इन्हीं प्रारंभिक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन होता है। इसमें स्थान स्थान पर संस्कृत श्लोकों की भरमार है जो हिंसा के समर्थन में दिये गये हैं। ये नाटकीय दृष्टि से अरोचक हैं। इसमें प्रयुक्त तो हुए है मनोरंजन एवं विनोद की सामग्री के लिए किन्तु वे नाट्य-वस्तु की रस-संचरण शक्ति के वेग को कम करनेवाले हैं। उनसे, कथोपकथन से, थोड़ा-सा विनोद तो होता है किन्तु हैं वे बड़े शिथिल। रस-परिपाक हो ही नहीं पाता है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

माँस-भक्षण सदृश विषय उठाकर यद्यपि विनोद की सामग्री अवश्य प्रस्तुत की गई है किन्तु वह बड़ी ही अव्यापक और निम्न-कोटि की है

जिसमें सुधारक प्रवृत्ति दिखाई देती है। कलात्मकता का ह्रास पाया जाता है। विनोद और मनोरंजन भी आक्षेपात्मक हो गया है जो सबको ही अरुचिकर होगा। किसी एकादि घटना से प्रभावित होकर ही भारतेंदु बाबू ने इस रचना के द्वारा अपने विचार प्रकट किये हैं। इसमें साम्प्रदायिकता की गंध-सी आती है। मत-मतान्तर के झगड़ों को उठा कर वही विवादात्मक वस्तु प्रस्तुत की गई है जिसमें आर्यसामाजिक खंडन-मंडन-प्रणाली को प्रश्रय मिलता है। माँस भक्षण के पश्चात् मद्यपान का प्रसंग भी उसी जगह बाद में उठाया गया है। विनोदी ढंग पर इसका भी समर्थन किया गया है। उस समय यह बात अवश्य थी कि जन-समूह माँस-भक्षण और मद्यपान निषेध को घृणा की दृष्टि से देखता था। वह ऐसे साहित्य से मनोरंजन प्राप्त करता था। इसीलिए जनता की इस प्रवृत्ति का परिचय व्यंग्य एवं विनोद के रूप में इस प्रहसन में पाया जाता है।

इसके सब पात्र हिंसा प्रेमी हैं और विकृत शास्त्रोक्त उद्धरणों द्वारा माँस-भक्षण और मद्यपान को धर्म की दृष्टि से उचित समझते हैं। धर्म की आड़ में उनका प्रयोग वर्ज्य नहीं मानते। पुरोहित सदृश जिह्वा-लोलुपी केवल स्वार्थ-साधन के लिए ही उसका समर्थन करते और समझते-बूझते हुए भी उसे खाते हैं।

कथोपकथन व्यंग्यात्मक होता हुआ भी साधारण है। हाँ यमपुरी का दृश्य दिखाकर कुछ रोचकता की जहाँ वृद्धि हुई है वहाँ शिक्षात्मक प्रवृत्ति भी जागृत हो उठी है।

"भगतजी गदहा क्यों न भयो", "हमने इस वास्ते पूछा कि आप वेदांती अर्थात् बिना दाँत के हैं सो भक्षण कैसे करते होंगे" आदि ऐसे कथन हैं जिनसे बालक अधिक प्रसन्न हो सकते हैं अथवा बाल-मस्तिष्क वाले प्रौढ़। यह छिछला हास्य है।

'अन्धेर-नगरी' में भी इसी बाल-वृत्ति एवं बाल-मनोरंजन का परिचय प्राप्त होता है किंतु 'अन्धेर-नगरी' के लिये 'बच्चों का खिलवाड़' कहना अधिक उपयुक्त होगा। यह रचना यद्यपि कई नाटकों के अनुवाद होने और लिखे जाने के बाद प्रकाशित हुई है किन्तु मेरी दृष्टि में यह उनकी प्राथमिक रचना है और उस अवस्था की जब वे छात्र रहे होंगे, क्योंकि क्या कथावस्तु, क्या शैली, क्या भाषा और क्या भाव-प्रकाशन सब ही दृष्टियों से यह निम्न कोटि की है। असम्भवताओं और अस्वाभाविकताओं से भरी हुई है। बालकों में प्राय: गम्भीरता का अभाव रहता और कोरी नकल की ओर ही अधिक झुकाव रहा करता है। आज भी बालक समुचित पथ-प्रदर्शन के अभाव में भोंडी नकल या खिलवाड़ से भरे हुए अभिनय किया करते हैं जिनमें भाषा की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया जाता। केवल अनुकरण ही रहता है। यही बात इन दोनों नाटकों में देखी जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ दूसरे में कोरा मनोरंजन है वहाँ पहिले में मनोरंजन से आगे बढ़ कर शिक्षा एवं सुधार का भाव पाया जाता है। व्यंग्य और मनोरंजन द्वारा शिक्षा और सुधार की नींव खड़ी की गई है। इसमें भारतेन्दुजी अपने संस्कृत ज्ञान का आभास देते हुए भी दिखाई देते हैं। कथावस्तु और नाटकीय उपकरणों एवं नाटकोचित संघर्ष, द्वन्द्व आदि मनोवेगों की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। मालूम पड़ता है इन रचनाओं को लिखते समय संस्कृत का ज्ञान उनका ताजा ही था।

'अन्धेर-नगरी'

दोनों में मुख्य पात्र राजा ही हैं। प्रथम में वह मद्य और मांसभक्षी है। उसका समर्थन उसका पुरोहित, मंत्री आदि सब ही करते हैं। दूसरे में वह महामूर्ख के रूप में अंकित किया गया है। स्वतंत्र बुद्धि का अभाव दोनों में पाया जाता है। दोनों अपने मंत्रियों और मुसा-

हिबों के हाथ की कठपुतली है। अन्य पात्र या तो स्वार्थी हैं या चापलूस अथवा पेटू साम्प्रदायिक विवादों मे भाग लेनेवाले, खंडन-मंडन की प्रवृत्ति के पोषक। आर्य-समाज एवं अन्य सम्प्रदायों मे जो झगड़े उन दिनों हुआ करते थे उनका आभास भी "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" में मिलता है।

इन्हीं दोनों की श्रेणी में हम उनकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेमयोगिनी' को रख सकते हैं। इसका यह नाम भारतेन्दुजी ने किस उद्देश्य से रखा, नहीं कहा जा सकता। इसके अंक काशी के छाया-चित्र के नाम से प्रकाशित हुए थे। वास्तव में ये काशी के छाया-चित्र ही हैं जो काफी लिख लेने पर, कुछ सिद्ध-हस्त हो जाने पर लिखे गये हैं। इनमें काशी का स्वाभाविक चित्रण है जो उनकी अवलोकन की सूक्ष्म दृष्टि का निदर्शक है किंतु इसमें वही पूर्व प्रवृत्तिएं दिखाई देती हैं। ये काशी के जीवनकी विभिन्नताओं के चित्र हैं। स्वाभाविकता की रक्षा के निमित्त वे कथोपकथन नागरी-हिंदी-में लिखी गई मराठी भाषा मे ही लिखते चले गये हैं। इसमें सन्देह नहीं महाराष्ट्र-प्रान्त से दूर रहते हुए भी सूक्ष्म अवलोकन दृष्टि प्राप्त करने के कारण, उनमें वर्णित मराठी पात्रों का चित्रण यथावत् और पूर्ण रूपेण कर सके हैं। मराठी भाषा के लहजे, भाव-भंगी, कहने का ढंग, प्रकृति, मराठी भाषा के कथोपकथन के प्राण, आत्मा आदि वे इसमें उतार सके हैं जिनका आनन्द हिंदी-भाषी मराठी विज्ञ भली भाँति उठा सकता है। किंतु यह सन्देहास्पद है कि इस प्रकार के लंबे कथोपकथनों का हिंदी की रचनाओं पर लादा जाना कहाँ तक उचित है। प्रायः सूक्ष्म दृष्टि कलाकारों से जिन्हें अन्य भाषाओं का ज्ञान होता है उन भाषाओं के भाषा-सौंदर्य का इस प्रकार का प्रकटीकरण अपने आप हो ही जाता है। प्रेमचन्दजी भी जहाँ मुस्लिम पात्रों को चित्रित करते हैं,

'प्रेम-योगिनी'

उनकी आत्मा को पूर्णरूपेण उतारते हैं वहाँ उर्दू भाषा ही का प्रयोग करते हैं। उर्दू भाषा ही का प्रयोग नहीं करते उसकी आत्मा-उसमें प्रकट होनेवाले भाव जैसे के तैसे ही फोटोग्राफ के समान अंकित कर देते हैं। काशी के छाया-चित्रों में भी भारतेन्दुजी से यही हुआ है। उनमें भी प्रेमचन्द जैसी सूक्ष्म दृष्टि थी। इसीलिये बाह्य-चित्रण उनसे भी अच्छा हुआ है। ऐसा कलाकार यदि प्रकृति का चित्रण करे, यदि उसकी वृत्तियें उसमें रम सकें तो वह एक वैज्ञानिक से भी अधिक प्रकृति के अन्दर पैठ सकता है। वह यदि मानव-हृदय में, मस्तिष्क में प्रवेश कर सके तो वह विश्व का अमर कलाकार हो सकता है। हिंदी इन तीन अवस्थाओं में से प्रथम दो तक पहुँच चुकी है। पहिली अवस्था पर लाने का श्रेय भारतेन्दुजी को है, दूसरी पर प्रेमचन्द एवं 'प्रसाद' ने प्रतिष्ठित किया है और तीसरी पर हिंदी का कोई भविष्य कलाकार उसे बैठायेगा।

'विषस्य विषमौषधम्' और 'सती प्रताप' को छोड़कर शेष नाटक विभिन्न एवं विशिष्ट दृष्टि कोणों को सम्मुख रखकर लिखे गये हैं। जैसा प्राक्कथन से प्रकट होता है नीलदेवी लिखने का लेखक का उद्देश्य यह है कि "पाश्चात्य ललनाओं की भाँति भारतीय ललनायें भी अपने पूर्व गौरव को प्राप्त कर वीर और वीर-प्रसविनी बनें। जिस भाँति अंग्रेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं। पढ़ी लिखी होती हैं, घर का कामकाज सँभालती हैं, अपनी संतान को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व जानती तथा चाहती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सपत्ति-विपत्ति को समझती हैं, इसमें सहायता देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को व्यर्थ गृह-दाह और कलह ही में नहीं खोती हैं, उसी भांति हमारी गृहदेवी भी वर्तमान हीनावस्था को उलंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें।" जन समूह के इस भ्रम को कि "उन्नतिपथ

नीलदेवी

का अवरोधक हम लोगों की कुल परंपरा मात्र है" दूर करना चाहता है। वास्तव में लेखक इस उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ हुआ है।

नीलदेवी एक वीर पत्नी ही नहीं है स्वतः एक वीर रमणी भी है। उसके चरित्र का विकास नाटक लेखक अंतिम अर्द्धभाग में करता है। अब्दुरशरीफखाँ एक विदेशी आक्रमणकारी है। वह उस समय के मुस्लिम आक्रमणकारियों का प्रतीक माना जा सकता है। उसमें, उसके सैनिकों में वही उत्साह, वही नीति तथा युद्ध प्रणाली, वही जैसे तैसे विजय प्राप्त करने की भावना और भारत को इस्लाम के झंडे के नीचे लाने का भाव है। राष्ट्रीयता का समर्थन करते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस प्रकार का भाव मध्यम युग के उस अंधकार मय वातावरण में था अवश्य। उस समय हिंदू जाति की सीधी सरल नीति, वीरता, साहस और उत्साह के होते हुए भी उसके लिये अहित-कारी थी। वे नीति और न्याय की दुहाई देते हुए पराजय पर पराजय झेलते जाते थे किंतु कुटिल नीति का अवलंबन नहीं करते थे। धीरे-धीरे इस नीति की प्रतिक्रिया प्रारंभ हुई। इसी प्रतिक्रिया का आभास हमें नीलदेवी के चरित्र में मिलता है। उसमें प्रतिहिंसा की भावना नहीं थी। वह अन्याय का घोर प्रतिकार उन्हीं सिक्कों में चुकाना चाहती थी जिनमें उसे प्राप्त हुआ था। वह वेबस थी, लाचार थी, शक्ति हीन थी। वह यह जानती थी कि कुमार केवल प्राण दे सकता है विजय प्राप्त नहीं कर सकता। वह देख चुकी थी कि उसका पति नीति और न्याय युद्ध के नाम पर मारा जा चुका है। धर्म-परिवर्तन के निमित्त उसके साथ अन्याय किया गया था। वह वीर नारी क्या करती? उस समय की बहु प्रच-लित कुटिल नीति के अवलंबन करने के सिवाय उसके पास और क्या उपाय था? पहिले भी वह पति को अब्दुरशरीफखाँ से और उसकी नीति से सचेत किया करती थी, किंतु उसकी सम्मति की अवहेलना की

गई थी, नहीं तो शायद ही उसे इस नीति के सहारा लेने का अवसर प्राप्त होता। जो उपाय उसने ग्रहण किया वह अंतिम था और इसी के साथ यह नाटक समाप्त होता है। अतएव यह कहना अनुचित है कि "जिस आदर्श को सामने रखकर भारतेंदुजी ने इसकी रचना की है उसकी सिद्धि नहीं होती।" जब कि नीलदेवी में वीरत्व, साहस, समय की सूझ, तत्कालीन नीति का अवलंबन, पति-वध का प्रतिकार पाया जाता है। "अंग्रेजी ललनाओं में क्या ये बातें नहीं दिखाई देती हैं?" इसीलिये लेखक "इस देश की सीधी सादी स्त्रियों की हीनावस्था" पर दुःख प्रकट करता हुआ उनके समक्ष नीलदेवी का चरित्र रखता है ताकि वे पुण्यरूप स्त्रियों के चरित्र को पढ़ें-सुनें, और क्रम से यथाशक्ति अपनी वृद्धि करें।"

हाँ इसमें 'प्रतिहिंसा के भाव' की तो नहीं किंतु हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य की वृद्धि-सी आज दिखाई दे सकती है। यह भाव मुस्लिम आगमन से आज तक नानक और कबीर से महात्माओं के उपदेशों के होते हुए भी बना हुआ है। द्विजेन्द्रलाल राय के अधिकांश नाटक भी इसी 'नीलदेवी' के कोटि के हैं। इसका एक कारण है। उस समय तक भारत में वह राष्ट्रीय भावना पुनः जाग्रत नहीं हुई थी जो आज दिखाई देती है अथवा मुस्लिम आगमन के प्रथम थी। मुस्लिम आगमन ने इस भावना को बड़े जोर का धक्का देकर हिला दिया था और आज देश के इतने प्रयत्नों के बाद भी उस भावना की विजय में, सर्वोपरि होने में संदेह रह ही जाता है। इसका एक कारण ज्ञात होता है। वह यह है कि अधिकांश मुसलमान अब तक भारत को अपना देश नहीं समझते। उसके सुख-दुःख स्वार्थ में अपना भी स्वार्थ है ऐसा नहीं समझते। वे अब तक शायद समस्त-मुस्लिम-राष्ट्र-संघ का स्वप्न टर्की आदि की स्वतंत्र विचार-प्रणाली के होते हुए भी देखा करते हैं। इधर हिन्दू-हित-

पक्षी भारत को अपना देश समझते हैं ही। इस लिए प्राय: इसी प्रकार की रचानाएँ होती रहती हैं। किन्तु इनका प्रणयन, विशेष कर 'नील देवी' का, हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य वृद्धि के उद्देश्य से नहीं प्रत्युत साधारण प्रकृति वश हो गया है।

तब हिन्दू-मुस्लिम समस्या जिस रूप में आज हमारे सामने है उस रूप में नहीं थी। उनमें मुस्लिम-बन्धुओं को अपने भ्राता और सहयोगी समझते हुए भी भारत हमारा ही है ऐसा भाव था। स्वभावत:, साधारणत: उनमें यह भाव नहीं रहता था कि वे मुसलमानों का विरोध करें अथवा उन्हें देश से बाहर निकालना चाहें। पृथक अंग न होकर बराबर के हिस्सेदार भाई हो जावें, यह भाव था। यही उन्होंने किया था और इसे करते हुए अपने पूर्व गौरव के वे स्वप्न देखा करते थे, न कि मुस्लिम विरोध के। उनमें सच्ची राष्ट्रीयता थी किन्तु उस अर्थ में नहीं जिसमें आज हम हिन्दू और मुस्लिम दोनों से आशा करते हैं। भारतेन्दु बाबू भी इसी लक्ष्य की ओर जा रहे हैं अथवा उस समय के एक भारतीय स्वदेश प्रेमी का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं नहीं तो वे, "अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी" कह कर भी पराधीनता से छटपटाते नहीं। क्योंकि उस समय, अंगरेज आगमन के पश्चात् भी हिन्दू भारतवासियों में यह भावना प्रबल थी

भारत दुर्दशा।

"सबके पहिले जेहि, ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले तेही सभ्य विधाता कीनो॥"

'भारत दुर्दशा' में भारतेंदुजी इसी भावना का प्रतिनिधित्व करते हुए अपने सच्चे देश-प्रेम की, हृदय में पराधीनता के अभिशाप की जो ज्वाला धधक रही थी उसका, भारत की घोर दुर्दशा का चित्र खींचते हैं। अंगरेज आगमन से भी भारत को सुख-शान्ति जिसकी इसने आशा की

थी वह प्राप्त नहीं हुई थी। भारत कहता है "हाय! मैंने जाना था कि अंगरेजों के हाथ में आकर हम अपने दुखी मनको पुस्तकों से बहला देवेंगे और सुख मानकर जन्म व्यतीत करेंगे।" इसके स्थान पर,

"पै धन विदेश चलि जात इहै अतिख्वारी।
ताहू पै महँगी काल रोग बिस्तारी॥"

गुलामी मे और होता क्या है? स्वराज्य और सुराज्य मे महान् अन्तर क्यों है? सुराज्य सुशासन दे सकता है। अधीनस्थों में, गुलामों में उनके बीच न्याय कर सकता है किन्तु क्या वह केवल स्वतंत्रता द्वारा ही प्राप्त होनेवाला आत्म गौरव भी दे सकता है? क्या समृद्धि, विकास, उन्नति और वृद्धि भी दे सकता है? शिक्षा और सभ्यता दे सकता है किन्तु क्या वह उस देश का अपनत्व हरण नहीं कर लेता? धन-हरण तो परतंत्रता का मुख्य ध्येय है जिसके आधार पर वह पुष्ट होता है और जिसके कारण गुलाम देश की नसें रक्त-विहीन हो भयंकर रोगों को आह्वान करती हैं।

पराधीनता का यही तो अभिशाप है कि वह स्वतंत्र भावोद्भावनी प्रतिभा को, आत्मावलंबन के दृढ़ विश्वास के सिर पर पदाघात करता है। फल-स्वरूप आलस्य, निराशा, कलह, मतभिन्नता, कुमति, अज्ञान आदि का प्रादुर्भाव होता है और सभ्य से सभ्य देश गुलाम बन कर मूक पशु हो जाता है जिसका उपयोग, जिसकी शक्तियों का उपयोग, उसका स्वामी अपने लिए, अपने स्वार्थों के लिए, अपनी महत्वाकांक्षाओं के लिए किया करता है। पशु तो फिर भी स्वतंत्र होते हैं। मरना-मारना जानते हैं किन्तु गुलाम मानव रूप पशु तो वह पालतू जानवर हो जाता है जो केवल चारा-दाना खाकर, अपना रक्त, अपना जीवन स्वामी और उसके स्वार्थ-हितार्थ अग्नि में जलाया करता है। इसीलिए तो 'आंग्ल सूर्योदय' के समय भूखे, दुर्बल, रोगी भारत की वेदना न मिटी।

ऐसे समय भारत में आशा का संचार कैसे हो सकता था ? वह तो प्रकृति-विरोधी, युग-विरोधी, हृदय-विरोधी अस्वाभाविक बात होती। आज भी भारत की दशा 'भारत दुर्दशा' में वर्णित दशा-सी ही है। फलतः आज भी साहित्य में विषाद, वेदना, नैराश्य, छटपटाहट, रुदन आदि मिलते हैं। इनसे विरुद्ध वस्तु का मिलना कभी स्वाभाविक हो ही नहीं सकता यदि सच्चा मानव, सच्चा युग उस कलाकार के मस्तिष्क में नहीं, हृदय में निवास करता है। कलाकार कोई अनोखा प्राणी नहीं होता, वह कितना ही कल्पना के गगन में क्यों न उड़ता फिरे किंतु "जैसे उडि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवै" वैसे ही वह भी इसी मानव भूमि के पृष्ठ पर अन्त में पैर रखता ही है। वह 'अहं' में अपने को श्रेष्ठ, उच्चतम, दुनियाँ से कितना ही ऊँचा क्यों न समझे ? यदि हमें 'भारत दुर्दशा' में नैराश्य का भाव मिलता है तो वह उचित है, स्वाभाविक है, सत्य है, सुन्दर है, कलात्मक है और इसीलिए परोक्ष रूप से 'शिव' भी है। उस समय की परिस्थिति पर जब हम विचार करते हैं तब हमें विदित होता है कि उस समय आशा थी ही कहाँ ? पराधीनता की वेड़ियें सन् सत्तावन के बाद, भारत के मुक्त होने के बड़े प्रयत्न के पश्चात्, करुण भारत का मंगल, हित था ही कहाँ जिसकी आशा में पृष्ठ रंगे जाते, कलम घिसी जाती ? उक्त क्रान्ति के पश्चात् तो भारत की वेड़ियें और भी तंग, भारी कर दी गई थीं। उसे काल-कोठरी दे दी गई थी जहाँ वह आराम से, शांति से विचार कर सकता था, इसीलिए तो भारतेंदुजी ने भारत के मुख से कहलवाया है, "हम अपने दुखी मनको पुस्तकों में बहलावेंगे" कितना मार्मिक, कितना नैराश्यपूर्ण है यह कथन। श्रेष्ठतम निराशा का सौंदर्य 'भारत दुर्दशा' में बड़ी ही प्रबलता से व्यक्त हुआ है। 'नीलदेवी' में केवल इस नैराश्य भाव का दिग्दर्शन ही है किन्तु 'भारत दुर्दशा' में उसका पूरा

परिपाक हुआ है जिससे हमें ज्ञात होता है कि भारतेंदुजी की नस-नस में भारत कैसा समाया हुआ था ? क्या भाषा और क्या भावों के व्यक्तीकरण की दृष्टि से यह नाटक बहुत ही उत्तम है। कितना मार्मिक, कितना सहानुभूति पोषक है। इसीलिए नाटक का अन्त विषादात्मक, निराशामय दिखाया गया है। उसमें उन्होंने जान-बूझ कर भरतवाक्य नहीं दिया है जिसका प्रयोग वे बराबर करते रहे हैं। यही हाल 'नील-देवी' का भी है। उसमें भी भरतवाक्य नहीं मिलता। मिल कैसे सकता है जब ये रचनाएँ लेखक के हृदय-तल से निकली हैं। जब उसमें निराशा का भाव छाया हुआ है। वास्तव में उस समय आशा का अंकुर तो पूरी तरह मुरझा ही गया था। सिपाही-विद्रोह की भारतीय महाक्रान्ति से श्मशान शांति थी। उसमें आशा कैसे हिलोरें लेती ? अंग्रेजी इतिहास में हम यह अवश्य पढ़ते हैं कि भारत उस समय शान्त कर दिया गया था। घटनाओं का विवेचन इस प्रकार किया जाता है जैसे उक्त क्रांति के पश्चात् भारत में शान्ति व्याप गई थी और वह सुख की नींद सोने लगा था। यह मिथ्या है। जिनके पिता, पुत्र, बधु, पति, आदि का बलिदान हुआ होगा उनकी आत्माएँ किस प्रकार शान्त रह सकी होंगी ? अतएव भारतेंदु बाबू ने नैराश्य का चित्रण कर युग-धर्म का ही पालन किया है। उनसे मंगलाशा की आशा करना बालू से तेल निकालना है। नदी को पर्वत पर चढ़ाना है।

भारत दुर्दैव कहता है, "कहाँ गया भारत मूर्ख ! जिसको अब भी परमेश्वर और राज राजेश्वरी का भरोसा है ?" इससे क्या प्रकट होता है ? बारबार जैसे उनकी आत्मा खीझ उठती है, झल्ला पड़ती है। देश की दुर्दशा उनके हृदय में शूलसी चुभती रहती है, काँटे सी खटकती है। कभी उनकी खीझ शासन पर प्रकट होती है, कभी स्वयं पर, जहाँ वे अपने अथवा हिंदू समाजके संबंध में

के संबंध में उद्गार प्रकट करते हैं वहाँ विदित होता है कि अपने विषय से, अपनी रचनाओं से भारतेंदु बाबू का कितना लगाव था, कितनी घनिष्ठता थी। अपने विषय में वे कितने लीन हो जाते थे। उनकी भाषा इस नाटक में बड़ी ओजमयी हो गई है। अपने प्रति भी उनमें खीझ का काफी भाव है। इसीलिये आगे भारत दुर्दैव फिर कहता है।

"अंग्रेजी अमलदारी में भी हिंदू न सुधरे। लिया भी तो अंग्रेजों से औगुण! हहाहा! कुछ पढे लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं। हहाहा! एक चने से भाड फोड़ेंगे। ऐसे लोगों के दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो"।

संतोष का फल भारत को क्या मिला? वह कहता है "राजा प्रजा सब को अपना चेला बना लिया, अब हिन्दुओं को खाने मात्र से काम देश से कुछ काम नहीं, राज न रहा पेनशन ही सही। रोजगार न रहा सूद ही सही, वह भी नहीं तो घर का ही सही 'संतोषी परमं सुखं' रोटी ही को सराह सराह कर खाते हैं, उद्यम की ओर देखते ही नहीं।"

इसी प्रकार रोग, अन्धकार आदि के कथनों में उनका हृदय फट पड़ा है। उनकी आत्मा अपने को प्रकट किये बिना रुक नहीं सकी है।

उस समय के कोरे कवि भी शायद आज के कोरे कवियों के समान ही रहे होंगे। जो 'मानव' और 'विश्व' (कल्याण) अपने मुँह में, मस्तिष्क में लिये रहते हैं किंतु मानव और विश्व के प्रति जैसे उनका कोई कर्तव्य नहीं। एक विशेष प्रकार की भाषा में, एक विशेष ढंग से भावों को व्यक्त करके अपने कर्तव्य की, कवि एवं मानव कर्त्तव्य की इति-श्री समझ लेते है। आज के कवियों में भी उनकी भाषा, भाव, रुदन और गायन में भी वही नारी और नारीत्व झलकता रहता है। इनका कार्य-क्षेत्र केवल शब्दों के जमघट तक ही सीमित रहता है। और अपने जीवन में वे अपनी मृदुल कल्पनाओं को नही देख पाते, नही देख

सकते। दूसरी बात उनमें पाश्चात्य भाव-प्रवणता, ज्ञान-विज्ञान के अनुकरण से अधिक उस सभ्यता की ओर अग्रसर होने की है जो विनाश की ओर शीघ्रता से जा रही है। 'भारत-दुर्दैव' में इस पर भी प्रकाश डाला गया है।

'विद्या सुन्दर' और 'श्री चद्रावली' उनकी ऐसी रचनाएँ हैं जो रोमेंटिक कही जा सकती हैं। ऐसी रोमांस की श्रेणी में आनेवाली रचनाएँ प्रायः किसी साहित्य के प्रारंभिक युग के अन्त में और माध्यमिक युग के प्रारम्भ में लिखी पाई जाती हैं। आँग्ल और फ्रेंच साहित्य के संबंध में तो यह बात घटित होती ही है किन्तु हिन्दी-नाट्य-साहित्य में भी इसीलिए प्राप्त होती है कि भारतेंदुजी में हमें हिन्दी-नाट्य-साहित्य के युग के प्रारम्भ का प्रौढ़ और मध्य के प्रारंभ का सुन्दर सम्मिश्रण मिलता है। अतएव हमें इन रचनाओं को रोमांटिक कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

विद्या-सुन्दर और चन्द्रावली

'विद्या सुन्दर' का कथानक इस प्रकार है। विद्या वर्द्धमान के राजा की गुणवती सुन्दर कन्या है किन्तु उसके योग्य वर नहीं मिलता। कई राजकुमार विवाहार्थ आते हैं किन्तु कोई भी उसके योग्य नहीं ठहरता। राजा को बहुत चिन्ता होती है। गंगाभाट गुणसिंधु (कांचीपुर के राजा) के पुत्र 'सुन्दर' की प्रशंसा करता है। राजा उसे देखने का आग्रह कर बुलवाता है। भाट उधर सुन्दर को लेने के लिए जाता है। इधर स्वयं सुन्दर विद्या के रूप, गुण, सौंदर्य पर मुग्ध होकर वर्द्धमान में ही आ जाता है। यहाँ पर हीरा मालिन से जिसका संपर्क राजघराने से है, परिचय प्राप्त कर रहने लगता है। एक दिन एक हार गूँथ कर विद्या के पास उसकी उत्सुकता वृद्धि के हेतु भेजता है। विद्या उस हार पर मुग्ध हो हीरा का ही बना हुआ हार मानना अस्वीकार

घर उससे भेद पूछती हैं। अन्त में सुन्दर, उस परदेशी युवक का वह पुत्र के रूप में परिचय देती है। विद्या के हृदय में सुन्दर को देखने की उत्कंठा जाग्रत होती है। दोनों का रोमैंटिक मिलन, वार्तालाप और प्रेम होता है। बाद में दोनों विवाह-प्रतिज्ञा में बँध से जाते हैं। इधर सुन्दर सन्यासी का रूप धारण कर राज सभा में पहुँचता है। शास्त्रार्थ में सभा को पराजित कर राजकुमारी विद्या से दूसरे दिन शास्त्रार्थ करना चाहता है ताकि विद्या से विवाह किया जा सके क्योंकि राजा की यही प्रतिज्ञा थी कि जो विद्या को शास्त्रार्थ में पराजित कर देगा वही उससे विवाह करेगा। सन्यासी से विवाह हो जाने की आशका से सबको दुःख होता है, विशेषकर विद्या और उसकी सखियों को। हीरा मालिन और विद्या का इस विषय का कथोपथकन रोमांटिक हो गया है। फिर पता चलता है कि कोई विद्या के महल में स्त्री का भेष धारण कर चोरी करने प्रायः नित्य आया करता है। राजा क्रोधित होता है और नगर कोतवाल के द्वारा सुन्दर पकड़ा जाता है। राजसभा में रोमांटिक ढंग से भेद खुलता है।

बाबूजी की इस रचना को पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह रोमांटिक है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या वास्तव में यह अनुवाद है जैसा बाबू श्यामसुन्दरदासजी मानते हैं। मैं इसे अनुवाद नहीं मानता। किसी कथानक की छाया लेकर यदि नाट्यरचना करना अनु-वाद हो सकता है तो पौराणिक या ऐतिहासिक नाटक सरीखी कोई रचना नहीं रह जाती है। फिर यह कथानक केवल बंगला की ही वस्तु नहीं है। इस प्रकार का चरित्र किस्से-कहानी के रूप में उत्तर भारत में प्रचलित रहा है। हाँ बगाल में विशेष रूप से उसका प्रचलन रहा होगा। उसके संबंध में स्वयं भारतेंदुजी लिखते हैं उससे भी यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि यह अनुवाद ही है। वे लिखते हैं

"विद्या-सुन्दर की कथा बंग देश में अति प्रसिद्ध है। कहते हैं कि चौर कवि जो संस्कृत में चौर पंचाशिका का कवि है वही सुन्दर है। कोई चौर पंचाशिका को वररुचि की बनाई मानते हैं। जो कुछ हो, विद्यावती की आख्यायिका का मूल वही चौर पंचाशिका है। प्रसिद्ध कवि भारत चंद्रराय ने इस उपाख्यान को बंग भाषा में काव्य रूप में निर्माण किया है और उसकी कविता ऐसी उत्तम है कि बंग देश में आबाल वृद्ध वनिता सब उसे जानते हैं। महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने उसी काव्य का अवलंबन करके जो विद्यासुन्दर नाटक बनाया था उसी की छाया लेकर आज पन्द्रह बरस हुए यह हिंदी भाषा में निर्मित हुआ है।"

श्री चंद्रावली एक दूसरी दृष्टि से रोमांटिक है। चंद्रावली का प्रेम इतना शुद्ध, उच्चकोटि का और रोमांटिक हो जाता है, वह इतनी भूली, विस्मृतसी भटकती रहती है कि उसे अपने शरीरादि की सुधि ही नहीं रहती। संध्या और बनदेवी से वार्तालाप में तो उसकी विस्मृति, तल्लीनता चरम कोटि तक पहुँच गई है। अन्त मे श्री कृष्ण का स्त्री का रूप धारण कर उससे मिलना भी रोमेंटिक हो गया है।

विषस्य विषमौषधम्

'विषस्य विषमौषधम्' के संबंध में बाबू श्यामसुन्दरदासजी का मत है, "विषस्य विषमौषधम् तो हमें भारतेंदुजी की रुचि और प्रवृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल जान पड़ता है।" "इसमें भारतेंदुजी अपने असली रूप में नहीं देख पड़ते। उनके स्वभाव में, उनकी रुचि में, उनके देशाभिमान में, उनकी देश हितैषिता में बड़ा ही परिवर्तन देख पड़ता है।" "इस भाषण से ऊपर जो दो छन्द उद्धृत किये गये हैं उनकी श्लेष युक्त भाषा में जो अश्लील भाव छिपे पड़े हैं वे केवल निंदनीय ही नहीं प्रत्युत कवि के रुचि विपर्यय के स्पष्ट प्रमाण भी हैं। भारतेंदुजी इस रचना में अपने ऊँचे आसन से बहुत नीचे गिर गये हैं।"

यह मत उन्होंने बाबू शिवनंदनसहायजी के एक कथन के आधार पर स्थिर किया है। इस निष्कर्ष पर पहुँचने का कारण वे यह बतलाते हैं, "जो महात्मा देश के लिए अपना सर्वस्व निछावर करने को उद्यत रहे, जिसको बात-बात में अपने देश का स्मरण हो आवे और जो उसके उदय के संबंध में अपने स्वतंत्र विचारों को प्रकट करने में कभी आगा-पीछा न करे, वही एक राजा के गद्दी से उतारे जाने पर आनंद मनावे और भाषण लिख कर प्रशस्ति में 'अंगरेजन को राज ईस इत थिरकरि थापै' तक कह डाले।"

हमारी तुच्छ दृष्टि में बाबूजी का उक्त कथन एकांगी, सहानुभूति-हीन एवं अनुचित है। सम्भव है विषय नीरस समझ कर इसकी आत्मा की ओर आपका कम लक्ष्य रहा हो।

भाण की कथा वस्तु दो प्रकार की हो सकती है। एक तो सीधे-साधे वाक्यों में, साधारण रूप से घटनाओं का वर्णन करते हुए और दूसरी व्यंग्यात्मक। भारतीय नाट्य रचनाओं के आदि साहित्य में अवश्य केवल पहिला ढंग ही स्वीकृत हुआ होगा किंतु इस बात की भी धीरे-धीरे आवश्यकता महसूस होने लगी होगी कि बिना व्यंग्य के वह सार-युक्त नहीं हो सकता। अतएव बाद के साहित्य पर दृष्टि रखते हुए जब हम भाण के प्रणयन के ढंग (Nature of the drama) पर विचार करते हैं तो हमें स्पष्टतया ज्ञात होता है कि उसके प्राण तो व्यंग्य ही हैं और तब ही वह रोचक और आकर्षक हो सकता है। 'विषस्य विष-मौषधम्' प्रारम्भ से मध्य तक पूर्ण रूपेण और मध्य से अन्त तक बीच-बीच में (क्योंकि यहाँ कथावस्तु लेखक शीघ्रता से पाठकों के सामने इसलिए रख देना चाहता है कि उसका कलेवर न बढ़े) व्यंग्य से ओत-प्रोत है। हिंदी-नाट्य-साहित्य में प्रथम भाण होते हुए भी वह ही उत्तम तथा व्यंग्यात्मक हो सका है। यह रचना भाण के मूलभाव को

संपूर्ण रूप से सुरक्षित रख सकी है। इसमें कूट-कूट कर, पद-पद पर व्यंग्य भरा हुआ है। अतएव जब तक हम उसकी आत्मा को व्यंग्य को न समझेंगे हम लेखक के साथ न्याय नहीं कर सकते।

अब निम्न-लिखित अवतरणों पर विचार कीजिये कि बाबूजी का उक्त कथन कहाँ तक न्याय संगत है। यह अवश्य हो सकता है कि इस रचना के समय भारतेंदु बाबू पर सरकार का कोप या दबाव पड़ा हो, तौभी इसमें भारतेंदु बाबू का वही हृदय, वही आत्मा दिखाई देती है जो उनकी अन्य रचनाओं में है। संभवतः उक्त दबाव के कारण ही उनकी आत्मा इस भाव के रूप में फूट पड़ी हो; व्यंग्यात्मक हो गई है। स्वदेश के प्रति, हिंदू-समाज के प्रति इसमें भी वही भाव है।

प्रारम्भ से ही भंडाचार्य व्यंग्योक्ति का अवलम्बन करते हैं। "हमारी दशा भी अब रावण-सी हुआ चाहती है, तो क्या हुआ होगा।

रावण ने दस सिर दिये, जनक नन्दिनी काज।
जौ मेरो इक सिर गयो, तो यामे कहँ लाज॥

देखो पर स्त्री संग से चन्द्रमा यद्यपि लाँछित है तो भी जगत् को आनंद देता है वैसे ही (मोछों पर हाथ फेर कर) हम बड़े कलंकित सही पर हमी इस नगर की शोभा हैं।"

"हाय-हाय! महाराज! अरे क्या हुआ? गद्दी-से उतारे गये? हाय महा अनर्थ हुआ। महाराजा नहीं गये हिंदुस्तान गया।"

"वाजिदअली शाह भी तो इसी खुराफत से उतरे थे माँ और भाई मालिक से इन्साफ चाहने के लिये विलायत पहुँचे।"

पासा पड़े सो दाव, राजा करे सो न्याव।

इनका राज्य गया तो क्या आश्चर्य है यह कुछ आज ही थोड़े हुई है, सनातन से चली आई है। और फिर राजनीति की रक्षा भी इसी से होती है।"

"धन्य है ईश्वर। सन् १६९६ में जो लोग सौदागरी करने आये थे वे आज स्वतंत्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं वा यह तो बुद्धि का प्रभाव है। और यह तो इनके सुशासन और बल का फल है।"

"साढ़े सत्रह सौ के सन् में जब आरकाट में क्लाइव किले में बंद था तो हिन्दुस्तानियों ने कहा कि रसद घट गई है सिर्फ चाँवल हैं सो गोरे खायें, हम लोग माँड़ पीकर रहेंगे।"

"सन् १८१७ में जब सरकार से सब मरहठे मात्र बिगड़े थे तब सिर्फ बड़ौदेवाले साथ थे। उनके कुल की यह दशा।"

"कलकत्ते के प्रसिद्ध राजा अपूर्व कृष्ण से किसी ने पूछा था कि आप लोग कैसे राजा हैं तो उन्होंने उत्तर दिया जैसे शतरंज के राजा जहाँ चलाइयें वहाँ चलें।"

"हमारी सरकार के विरुद्ध जो कुछ कहे वह झख मारे। यदि ऐसे लोगों को उचित दण्ड न हो तो ये लोग न जाने क्या अनर्थ करें।"

"अहा धन्य है सरकार! यह बात कहीं नहीं है। दूध का दूध पानी का पानी। और कोई बादशाह होता तो राज्य नष्ट हो जाता। यह इन्हीं का कलेजा है। हे ईश्वर, जब तक गंगा-यमुना में पानी है तब तक इनका राज्य स्थिर रहे।"

इसी प्रकार "अगरेजन को राज ईस इत थिर करि थापै।" में भी व्यंग्य है। ये कबीर के "बरसै कम्मल भींगे पानी" वाली उक्ति को ही चरितार्थ कर रहे हैं।

अब उक्त दो पद्यों पर विचार कीजिये। नारी का एक रूप वह भी है जहाँ वह आकर्षक है, मोहक है। हम उसके इस अंश की अवहेलना नहीं कर सकते और यदि हम अवहेलना करें भी तो उस अवहेलना का मूल्य ही क्या होगा? जिस अंश का तिरस्कार साधु, महात्मा, पहुँचे पुरुष भी सर्वथा करने में असमर्थ रहे हैं और हैं, वह तुच्छ, नगण्य,

त्याज्य नहीं समझा जा सकता। नारी का यही वह प्रबल रूप है जिससे मनुष्य उसका आदर करता है, उसका सहयोग चाहता है। उसे अपने जीवन के संपर्क में लाना चाहता है, उसके समक्ष नत-मस्तक होता है। यदि नारी में यह सहज, स्वभाव-जात आकर्षण नहीं होता तो यह स्वार्थी, पुरुषार्थी, शक्ति का पुजारी मानव उसे पैरों से कुचल डालता, उसे निगल जाता; उसका नाश कर देता। नारी ने यदि ममता को, ममता के सहोदर संतति को पैदा न किया होता तो मनुष्य उच्छृंखल हो जाता, स्वार्थी हो जाता। सृष्टि का संहार कर डालता। नारी का यही रूप परोक्ष रूप से मनुष्य की अनेक अतृप्त आकांक्षाओं को सीमित बनाये हुए है वरना वह उग्र हो उठता, विनाशक हो उठता, प्रलय मचा देता। उपेक्षित, अवहेलित नारी के पास इस शक्ति के अतिरिक्त और कौनसी शक्ति आज के बीसवी शताब्दी के सभ्य और शिक्षित मानव ने छोड़ रखी है? आज वह नारी का पुजारी क्यों बन गया है? क्या वह उसका उपकार करना चाहता है? उसे महत् बनाना चाहता है? उसके प्रति उसे सहानुभूति है? यह सब भ्रम है, पाखंड है। नारि का यही शक्ति-स्रोत ही तो उसे नचाया करता है। इसे अश्लील कहकर हम मुँह नहीं फेर सकते। इसमें संदेह नहीं नारी में भगिनीत्व एवं मातृत्व भी हैं। वास्तव में ये नारी के शृंगार हैं, श्रेष्ठ हैं पूज्य हैं। किन्तु नारी में जो पत्नीत्व है वह उसका एक प्रबल व्यापक सर्वकालीन अंग है जो चाहे आदर्श न हो किन्तु व्यावहारिक अवश्य है। 'काम' अथवा 'कामदेव' शब्द आ जाने मात्र से केवल कोई रचना अश्लील नहीं कही जा सकती। इन्हीं दो छंदों में भारतेंदु बाबू ने बड़ी प्रबलता से उसी सहज आकर्षण का चित्रण किया है। यह चित्रण स्वाभाविक भी है। वर्ण्य विषय और प्रसंग के पूर्ण रूप से अनुकूल है। जिस नारी के इस रूप ने महाराजा बड़ोदा को सिंहासनच्युत कराया

उस स्थान पर इस प्रकार के छंद अनुचित प्रतीत नहीं होते। वे छंद हैं।

"पुरुषजनन के मोहन को विधि यंत्र विचित्र बनायो है।
काम अनल लावण्य सुजल बल जाको विरंचि चलायो है॥
कमर कमानी बार तार सौं सुन्दर ताहि सजायो है।
धरम बड़ी अरु रेलहु सों बढ़ि यह सबके मन भायो है॥
पुरुष जनन के मोहन को यह मगल यत्र बनायो है।
कामदेव के बीज मंत्र सों अंकित सब मन भायो है॥
ग्रहण दिवारी कारी चौदस सारी रात जगायो है।
सिद्ध भयो सबको मन मोहत नारी नाम धरायो है॥

सत्य हरिश्चंद्र नाटक भारतेंदुजी का सबसे प्रसिद्ध नाटक है। इसका अभिनय भी कई बार किया जा चुका है। वास्तव में न केवल शिक्षा की दृष्टि से किंतु कला और रस-परिपाक की

सत्य हरिश्चन्द्र

दृष्टियों से भी यह एक सुन्दर कृति है। इसकी भाषा, इसके भाव, इसकी कथावस्तु और उसका प्रयोग एवं समुचित निर्वाह लेखक के मनोनुकूल, आदर्श के अनुकूल हुआ है जिसमें उसके स्वयं के जीवन का प्रतिबिंब दिखाई देता है। नाटक की कथावस्तु पौराणिक होते हुए भी उसमें नवीनता है और वह अरोचक नहीं हो पाई है। इस नाटक की गणना सघर्ष-प्रधान नाटकों ही में करना उचित होगा यद्यपि वियोगात्मक होते हुए भी अंत में वह संयोगात्मक हो गया है। क्योंकि प्रारंभ से लेकर अन्त तक वाह्य और आँतरिक दोनों प्रकार का सघर्ष राजा हरिश्चंद्र और विश्वामित्र में चला करता है। यद्यपि वाह्य-दृष्टि से देखने में यह प्रतीत नहीं होता कि विश्वामित्र से कोई द्वन्द्व युद्ध हो रहा है। किंतु सूक्ष्म रूप से विचार करने पर दो विरुद्ध दल दिखाई देते हैं। एक ओर राजा हरिश्चंद्र तथा उनका परिवार है और दूसरी ओर विश्वामित्र, इन्द्र तथा अन्य परीक्षक हैं। इनमें प्रारंभ से

लेकर अंत तक द्वन्द्व चलता रहता है। विश्वामित्र इस में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते और एक आग सुलगाकर अलग हो जाते हैं। केवल कभी-कभी उस जलाई हुई आग को और प्रज्वलित कर देते हैं। अन्त में रोहिताश्व को सर्प-दंशन करवा कर उस अवस्था में नाटक की कथा वस्तु को ला देते हैं जहाँ संघर्ष अपनी चरम कोटि पर पहुँच जाता है। चूँकि यह नाटक संघर्ष प्रधान है इसलिये हमें यह देखना चाहिये कि इस संघर्ष का जनक कौन है? शायद यह कहा जा सकता है कि इंद्र ही इसका जनक है जिसने ईर्षावश ऐसी परिस्थितिएँ विश्वामित्र द्वारा उपस्थित करवा दीं कि हरिश्चंद्र को संघर्ष में भाग लेना अनिवार्य हो गया। यदि इंद्र को इस संघर्ष का जनक मानते हैं तो हमें स्वयं हरिश्चंद्र की इस प्रतिज्ञा को ही संघर्ष को पैदा करनेवाली मानना चाहिये कि

"चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ व्रत हरिश्चंद्र को, टरै न सत्य विचार॥"

इसी प्रतिज्ञा के कारण इंद्र में राजा हरिश्चंद्र के प्रति ईर्षा पैदा हुई। उनकी इस प्रतिज्ञा के सत्य की परीक्षा लेने की इच्छा पैदा हुई। यह तो राजा हरिश्चंद्र का आह्वान था जिसकी चुनौती इंद्र और विश्वामित्र ने स्वीकार की और पराजित हुए। अतएव यह कहना न्याय संगत नहीं हो सकता कि, "क्रियाशील तो विश्वामित्र दीख पड़ते हैं, हरिश्चंद्र तो अकर्मण्य की भाँति जो जो सिर पर पड़ता है उसे चुपचाप सहते जाते हैं।"

अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा पर अड़े रहकर स्त्री-पुत्र और स्वयं को बेचकर, तरह-तरह की आपत्तिएँ झेलकर, स्वामी-सेवा और स्वामी के प्रति कर्त्तव्य के लिये ऋद्धि-सिद्धियों को तिलांजुलि देना, महाविद्याओं की ओर से मुँह फेर लेना, शैव्या से रोहिताश्व के कर में कफन का कपड़ा

माँगना और अपने सत्य धर्म पर स्थिर रहना यदि अकर्मण्यता हो सकती है तो फिर कर्मण्यता हम किसे कहेंगे ?

दूसरे इस दृष्टि से भी विचार कीजिये। यदि हरिश्चंद्र संसार के समान स्वप्न को भी सत्य न मानते और राज्य देना अस्वीकार कर देते तब क्या होता ? शायद विश्वामित्र उन्हे श्राप देते, कष्ट देते अथवा नाटक में वर्णित अवस्था में ला पटकते, ऐसी अवस्था में उपयुक्त कथन ठीक हो सकता है। किंतु वे स्वप्न को सत्य मानते हैं, उसके लिये सर्वस्व त्याग देते हैं और आपत्तियों का आह्वान करते हैं, वे अकर्मण्य नहीं माने जा सकते। इसलिये नाटक के नायक उन्हें ही मानना उचित है और विश्वामित्र को प्रतिनायक।

यह बात सत्य है कि अभिनय कला की दृष्टि से इसमें कतिपय त्रुटियें रँग आई है। अंकों का विभाजन रोचकता एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक नहीं है। जहाँ उत्तरोत्तर अंकों का छोटा होते जाना चाहिये था वहाँ वे वड़े होते गये हैं। अंत में शैव्या विलाप भी अत्यधिक बड़ा हो गया है। आँसुओं की धारा पाठकों को रुला देती है। अभिनय के समय यही बात होती है। किंतु समय का परिवर्तन भी कोई चीज है। यद्यपि अमर रचना तो अमर होती है किंतु सब समय वह एकसा-मनोरजन कर सके यह संभव नहीं। एक समय की सर्व श्रेष्ठ रचना हमेशा सर्व श्रेष्ठ रचनाओं में परिगणित की जाना चाहिये किन्तु समयान्तर से रुचि में भी भिन्नता आ जाती है और तब पाठक एक नवीन और उससे भिन्न वस्तु की माँग करता है। साधारण स्वादों के समान साहित्य में भी स्वादों, रुचियो अथवा रसों की भिन्नता की माँग समय-समय पर हुआ करती हैं। रचना का सब से वड़ा गुण विशेष कर नाटकीय रचना का बड़ा गुण तो यह है कि वह असत्य अथवा आन्तरिक सत्य को सत्य अथवा बाह्य सत्य में परिणत कर दे, हमें भुला दें कि

हमारे समक्ष जो पात्र अभिनय कर रहे हैं वे हमारे समय के साधारण मनुष्य नहीं प्रत्युत वही मनुष्य हैं जिनका कि वे अभिनय कर रहे हैं। इस भुला देने को, असत्य को सत्य रूप देने को ही हम कला कहते हैं। सत्य हरिश्चंद्र में इस कला की बहुलांश में रक्षा हुई है। शैव्या-विलाप-आवश्यकता से अधिक बड़ा होते हुए भी अपना इच्छित प्रभाव पाठकों पर छोड़ ही जाता है। अतएव अस्वभाविकता से रहित है। प्रेक्षक यदि भूलकर रोने लग सकते हैं तो यह कला का दोष नहीं, चरमाभिव्यक्ति है। उस समय तक इस कला पर कोई शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ था। इस विषय का कोई ग्रंथ हिंदी में उपलब्ध नहीं था। भारतेंदुजी की अप्रतिम प्रतिभा ने संस्कृत एवं पाश्चात्य नाट्य प्रणालियों का जितना ज्ञान उस समय संभव हो सकता था प्राप्त कर, उसका समुचित उपयोग कर हिंदी-नाट्य साहित्य की श्री वृद्धि की और उच्चादर्श रखा। उस समय तो उन्हें केवल इसी बात से संतोष था कि " जहाँ के लोग नाटक किस चिड़िया का नाम है, इतना भी नहीं जानते थे, भला वहाँ अब लोगों की इच्छा इधर प्रवृत्त तो हुई। " और हमें भी इतने से संतुष्ट होना जाना चाहिये और इस प्रवृत्ति के पैदा करने का श्रेय भारतेंदुजी को ही देना चाहिये। भारतेंदुजी ने यह कार्य केवल इसीलिये लिया क्योंकि जो बड़े-बड़े लोग थे (हैं) और जिनके किये कुछ हो सकता था (है) उनका ध्यान इस ओर जाता ही न था।

यद्यपि यह नाटक उनके मित्र बालेश्वर प्रसाद बी. ए. के इस आग्रह पर कि "आप कोई ऐसा नाटक भी लिखें जो लड़कों के पढ़ने-पढ़ाने योग्य हो, क्योंकि शृंगार रस के नाटक जो उन्होंने लिखे हैं वे बड़े लोगों के पढ़ने के हैं लड़कों को उनसे कोई लाभ नहीं।" लिखा। किंतु इसका विकास बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है। प्रथम अंक में लड़कों के

लिये शिक्षा का खजाना है। दूसरे में नाटकीय विकास का प्रारंभ, राजा हरिश्चंद्र की दृढ़ प्रतिज्ञा से प्रारंभ होता है। उस प्रतिज्ञा-पूर्ति के प्रयत्न का प्रारंभ होता है। तीसरे अंक में प्रतिज्ञा पूर्त्यर्थ पत्नी एवं पुत्र सहित राजा बिक जाते हैं। चौथे अंक में रस परिपाक और काव्य-कला का उज्ज्वल दिग्दर्शन होता है।

प्रारंभिक अवस्था में लेखक आत्म-प्रकाशन की ओर ही अधिक झुकता है। उसका क्षेत्र प्रायः संकुचित भी होता है। उसमें व्यापक भावनाएँ नहीं मिल पाती हैं। आत्म-प्रकाशन के पश्चात् जैसा मैं पहले कह आया हूँ शिक्षा की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसी प्रकार प्रथम दो अंकों में बालकोपयोगी सामग्री बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त होती है। इन्हीं अंकों में भारतेंदु बाबू के चरित्र की महानता प्रदर्शित होती है। ऐसा ज्ञात होता है, उन्होंने अपना हृदय, अपनी आत्मा, अपने जीवन का सार तत्व निकालकर रख दिया है। उनके समकालीन लेखक न्यू-मेन की भी यही खूबी थी कि वह अपने को बड़े ही स्पष्ट ढंग से व्यक्त कर सकता था।

इस नाटक में स्पष्टतया भारतेंदु बाबू अपने जीवन को अपने जीवन के आदर्श को रख सके हैं। अपने जीवन की परीक्षा में वे भी इसी प्रकार सफल हुए थे। राजा हरिश्चंद्र ने केवल एक स्वप्न की ही घटना के कारण तो सर्वस्व त्यागकर कष्टों को आह्वान किया। स्वप्न तो सत्य नहीं होता, चाहे कभी उसमें सत्यासत्य ही क्यों न मिले। भार-तेंदुजी ने भी तो स्वप्नों में ही अपनी धन-संपत्ति खोई थी। वे भावुक हृदय थे। भावुकता तो स्वप्नों ही की सहचरी है। इस जगत की वास्तविकता से कोसों दूर रहती है। इसी के कारण अन्त समय में उन्हें काफी कष्ट उठाना पड़ा। यह कष्ट काल सत्य हरिश्चंद्र के चौथे अंक के समान ही आंतरिक दुःख का और काफी बड़ा उनके जीवन में

रहा है। राजा हरिश्चंद्र के समान ही अपने चित्रों की एक अप्राप्य निधि अपने एक मित्र को वे दे चुके थे किंतु उफ तक न की। उनका वह मित्र भी विश्वामित्र से अधिक कठोर हृदय था। उसने वह निधि नहीं लौटाई यद्यपि भारतेंदु बाबू उसे सैकड़ों रुपया उसका मूल्य—अपनी वस्तु का मूल्य देने को उद्यत थे यद्यपि विश्वामित्र ने तो केवल परीक्षा ली थी और वे उनका राज्य अन्त मे लौटा देना चाहते थे।

पहिले अंक में इन्द्र-नारद-संवाद कि निम्न कथनों पर विचार कीजिये।

"साधु स्वभाव से ही परोपकारी होते हैं।"

"अहा! हृदय भी ईश्वर ने क्या ही वस्तु बनाई है! यद्यपि इसका स्वभाव सहज ही गुणग्राही हो, तथापि दूसरों की उत्कट कीर्ति से इसमें ईर्षा होती है, इसमें भी जो जितने बड़े हैं, उनकी ईर्षा उतनी ही बड़ी है। हमारे ऐसे पदाधिकारियों को शत्रु उतना सताप नहीं देते जितना दूसरों की संपत्ति और कीर्ति।"

"बड़ाई उसी का नाम है जिसे छोटे-बड़े सब मानें।"

"जिसका भीतर बाहर एकसा हो और विद्यानुरागिता, उपकार-प्रियता आदि गुण जिसमें सहज हो, अधिकार में क्षमा, संपत्ति मे अन-भिमान और युद्ध में जिसकी स्थिरता है वह ईश्वर की सृष्टि का रत्न है।"

"बड़ा पद मिलने से कोई बड़ा नही होता है। बड़ा वही है जिसका चित्त बड़ा है।"

इसी प्रकार गृह-चरित्र, 'महात्मा एवं दुरात्मा' भेद आदि के कथन प्रायः उनके चरित्र पर ही घटित होते है। बाल-शिक्षोपयोगी है और सरलता से उनमें प्रकट किये गये हैं।

दूसरे और तीसरे अंक में उनके इस कथन की "भला जिसने पहले अपने घर के चरित्र ही नहीं शुद्ध किये हैं उसकी और बातों पर क्यों विश्वास हो सकता है" परीक्षा होती है।

महारानी शैव्या दुःस्वप्नों को देखकर भयभीत हो जाती है महाराज हरिश्चंद्र जब अपने स्वप्न में राज्य दान में देने की बात उसकेसमक्ष रखते हैं तब वह कुछ अद्भुत बात सी समझती है किन्तु शीघ्र अपनी गलती स्वीकार कर लेती है। पति की सहगामिनी होकर दासत्व स्वीकार कर लेती है, बिक जाती है। चौथे अंक में उसका वह अंश भी हमें देखने को मिलता है जहाँ वह करुण हो गया है। इसमें संदेह नहीं शैव्या का विलाप साधारण स्त्रियों के दहाड़ मारकर रोने सरीखा हो गया है, वह बाह्य है और हृदय की अनुभूति उसमें पूर्ण रूप से जैसी चाहिये वैसी नहीं पाई जाती क्योंकि केवल रोने से या ऊपरी शब्दों के कथन से ही रस की उत्पत्ति नहीं होती। उसमें हृदय के भावों का सामंजस्य चाहिये शब्द चाहे करुणा पूर्ण भले ही न हों। विषय का विस्तार, प्रकटीकरण ही ऐसा होना चाहिये कि वह रस की उत्पत्ति कर दे।। जैसा प्रसंग कारुणिक है, हृदय-स्पर्शी है, मर्म व्यथा पर चोट पहुँचानेवाला है वैसा उसका निर्वाह यथोचित नहीं हुआ है। किंतु एक वृहत् सीमा तक रस का संचरण एवं परिपाक अवश्य करता है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र

'प्रसाद' के पश्चात् मिश्रजी में हमें एक बड़ी तीव्र, बलवती विचार-धारा, एक वेदना मिश्रित तिलमिलाहट, समाज और परिस्थितियों के प्रति एक मार्मिक किंतु गंभीर व्यंग्य मिलता है।

मिश्रजी ने हिंदी-साहित्य में सबसे पहिले पाश्चात्य प्रणाली, न केवल वाह्य या टेकनिक संबंधी, किन्तु आंतरिक, चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी भी एवं अन्य समस्याओं, जीवन की विषमताओं, भारतीय जीवन में उठनेवाली सामाजिक और साहित्यिक क्रांतियों को भी आधुनिकतम रूप में रखा है। इसमें संदेह नहीं यदि मिश्रजी के नाटकों को खेलेजाने का सुयोग मिलता तो आज से कई वर्ष पहिले हिन्दी-साहित्य-समाज में एक घोर क्रांति की उद्भावना हो जाती और मिश्रजी का अनुकरण तरुण समाज में जीवन और बल प्रदान करता। आज तो शायद हम मिश्रजी की बात सुनने के लिए भी तैयार हैं किंतु उस समय तो हमने मिश्रजी का बहिष्कार कर दिया होता। मिश्रजी के नाटकों का अधिक और व्यापक प्रचार नहीं हुआ, इसका कारण यही रहा कि एक तो हिन्दी का कोई मंच नहीं, दूसरे उनकी भाषा जितनी वेगवती उनकी भूमिकाओं में उनसे व्यक्त हो सकी है उसका दशमांश भी हमें उनके नाटकों में नहीं मिलता। रुक जाने की शैली भी उनकी अस्पष्ट और नाटकीय कला की दृष्टि से भाव-व्यंजक नहीं। तीसरे हमने मिश्रजी में जो खूबी, जो व्यंग्य, जो मार्मिकता, जो कचोट, बेचैनी, तिलमिलाहट, जो आवेग, जो क्रांति, जो भावप्रवणता, जो उथल-पुथल, जो संघर्ष और अंतर्द्वंद्व हैं उन्हें

पहिचाना नही है। इस लेखक को शायद हम समझ ही नहीं पाये हैं। हमारा यह दृढ विश्वास है कि यदि मिश्रजी को स्टेज पर स्थान मिले तो कतिपय संशोधनों एवं स्टेज की आवश्यकताओं का ध्यान रखने पर भी उनकी कृतिएँ एक मानसिक क्रांति, एक अभूतपूर्व लहर पैदा करने में समर्थ हैं।

इसकी तरफ हमारा ध्यान न जाने का कारण यह भी हो सकता है कि इसने पाश्चात्य जीवन का अनुकरण किया है। इसने पाश्चात्य प्रणालियों एवं शैलियों तथा आधुनिकतम विचार धाराओं का अनुकरण तो किया है किंतु वह नकल नही है, सफल अनुकरण है। शुद्ध भारतीय है। आवरण अवश्य पाश्चात्य दिखाई देता है किंतु आत्मा शुद्ध भारतीय ही है।

यहाँ पर यह लिखना भी अप्रासंगिक नहीं होगा की इस भावनाओं के नाटक लेखक पर भी असहयोग एवं अन्य राष्ट्रीय आंदोलनों का काफी प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव पड़ा है। वह एक ऐसी लहर थी जिसने देश भर में एक जीवन जगा दिया था। इसमें संदेह नहीं १९२० के पहिले भी काफी राष्ट्रीय जाग्रति हो गई थी किंतु वह सीमित थी और उसमें भी ज्यादातर, सैद्धान्तिक थी। क्रियात्मक उतनी नहीं थी। १९२० के पश्चात् एक बार सारे देश में 'एक वर्ष में स्वराज्य' का संदेश पहुँच गया था। लोगों में जाग्रति बिजली के समान फैल गई थी। रामराज्य के स्वप्न भारतवासी देखने लगे थे और एक बार सन् सत्तावन के पश्चात् उन्होने समझा था कि हम मुक्त हो सकेंगे। पराधीनता से अपना पीछा छुडा सकेंगे। इसके पहिले जनता का ध्येय सामाजिक सुधारों की ओर ही था किंतु इसके पश्चात् कुछ समय तक वह राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत रही और उसमें धीरे-धीरे

लेखक पर राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव

आत्मिक बल का संचय और वृद्धि होती रही । इसके साथ ही जब वाह्य आंदोलन अथवा युद्ध बन्द हुआ तो देश का काया पलट हो गया था। पाश्चात्य एव पौर्वात्य सब धाराएँ—सब प्रकार की नवीन धाराएँ सहस्रों मुखी हो फूट पडीं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जाग्रति के चिह्न नजर आने लगे। जीवन पर प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार किया जाने लगा। आंदोलन अथवा युद्ध तो बन्द हो गया किंतु उसका प्रभाव भारतीय मस्तिष्क पर काफी पड़ा और वह प्रभाव साहित्य की अनेक धाराओं में से बह निकला और आज भी बह रहा है। निकट भविष्य में भी बहता जायगा। इतनी प्रचुर सामग्री उस लहर ने भारत को, भारतीय मस्तिष्क को, प्रतिभा को, लेखकों, साहित्यिकों एवं कलाकारों को दी है। यद्यपि आज का लेखक चाहे यह स्वीकार न करे कि उस पर क्रांति का जो अब तक हो रही है और जब तक महात्माजी जीवित हैं तब तक चलती रहेगी, असर पडा है, क्योंकि उसके परोक्षभाव का अनुभव वह नहीं कर रहा है किंतु उस लहर ने जो कण भारतीय वातावरण में फैला दिये हैं वे उड-उड़ कर उसकी प्रत्येक स्वाँस के साथ उसके हृदय को स्वच्छ और उसके मस्तिष्क को उर्वर बना रहे हैं। उसकी वाणी में जोश, उसकी कार्य प्रणाली में त्याग, उसकी आत्मा में शक्ति, द्वंद्व, उस उस द्वद्व से लडने की ताकत, सत्य के प्रति आग्रह, युद्ध की भावना, विद्रोह की भावना और जनता-जनार्दन तक पहुँचने की आकांक्षा उसी क्रांति के कणों द्वारा हममें जाग्रत हुई है।

इसी प्रकार न केवल जीवन के किन्तु साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में भी वे कण फूट निकले हैं। जब 'प्रसाद' से लेखक में उसका प्रभाव अंकित होता है तो मिश्रजी सदृश सामयिक समस्याओं पर लिखनेवाले लेखक पर उसका प्रभाव न पड़ता यह संभव नहीं था। मिश्रजी के नाटकों में तो कई रूप मे यह पड़ा है; राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक,

पाश्चात्य शैली एवं विचारों सम्बन्धी। मिश्रजी स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि कलाकार को अपने युग की जिंदगी बिताना चाहिए।

इस दृष्टि से यह लेखक बड़ा सौभाग्य शाली है कि इसने सामयिक घटनाओं और पात्रों को, वातावरण को अपने नाटकों में स्थान दिया है।

लेखक की विशेषता

तत्कालीन परिस्थितियों एवं पात्रों का चित्रण जितना सरल है उतना ही कठिन भी है। इनके चित्रण के लिये मस्तिष्क का परिष्कृत एवं निष्पक्ष होना, हृदय का सरल, निष्कपट और सब के लिये सहानुभूति एवं समवेदना पूर्ण होना, दृष्टिकोण का व्यापक होना, लेखक की सूक्ष्म दृष्टि का होना, उसमें अवलोकन और ग्रहण करने की शक्तिओं का होना अत्यंत आवश्यक है। ये बातें जितनी ही उसमें अधिक होंगी वह उतना ही सफल लेखक अथवा कलाकार हो सकता है। सामयिकता को प्रकट कर देना अभिशाप नहीं है जैसा कि कतिपय कलाकार सोचा करते हैं। प्रत्येक कलाकार, साहित्यक अथवा लेखक को अपने युग की जिंदगी तो बितानी ही पड़ती है। जिस युग में वह खेलता-कूदता, पढ़ता-लिखता, विचार-विनिमय करता उसका प्रभाव उस पर न पड़े यह संभव नहीं। वह कल्पना की उड़ानें कितनी ही भरता रहे किंतु उसकी कल्पना का आधार वही युग, उस युग की घटनाएँ, वातावरण एवं भावनाएँ और अनुभूतिएं ही रहेंगी। हाँ. चूँकि उसमें ग्रहण शक्ति बड़ी तीव्र होती या जितनी तीव्र होती है उसके अनुसार वह युग से जल्दी से जल्दी भावनाएँ विचार धाराएँ ग्रहण कर लेता है और उसकी प्रतिभा एक सुन्दर सुव्यवस्थित और सुचिंतित रूप में उन्हें प्रकट कर देती है। अन्य साधारण एवं निम्न कोटि के लेखकों को इसी मनोवैज्ञानिक क्रिया में—ग्रहण एवं प्रकटी करण में—काफी समय लग जाता है। कभी-कभी अन्य कारण भी ऐसे आजाते हैं जिनसे इनमें व्यवधान अथवा व्याघात पड़

सकता है, किंतु इनके कारण लेखक का महत्व कम नहीं होता यदि वह उस समय तक की विचार-धारा से पहिली का उचित समन्वय कराकर अपने को व्यक्त करे।

काल-विशेष के पात्र, परिस्थितिएँ एवं वातावरण प्रभावित भी अधिक करते हैं। वे रोचक भी अधिक होते हैं क्योंकि इन के द्वारा मनुष्य अपने को ही देखते हैं। हमारे गुण-दोषों का विवेचन हम निष्पक्ष होकर कला-प्रदर्शन के जरिये देख सकते हैं। कभी-कभी हमें अपनी बुराईयों पर क्रोध भी आ जाता है। एक खीझ और झल्लाहट हम में पैदा होती है। विशेष कर तब जब कि उक्त कला प्रदर्शन में हमारा जातीय सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा एकांगी चित्रण हो। इसलिये आधुनिक चित्रण के कलाकार को बड़ा सतर्क रहना चाहिये और उसे समदृष्टि तथा निष्पक्ष होना चाहिये। उसके लिये केवल कला की ही दृष्टि से लिखना श्रेयस्कर है। जहाँ तक हो सके वहाँ तक समस्याएँ तो रखे उसके हल भी वह रख सकता है किंतु उनका हल अंतिम रूप में न रखे, यही उसके लिये उत्तम होगा। फिर भी उसकी प्रतिभा के लिये, कला के लिये कोई इस प्रकार का बंधन नहीं निर्धारित किया जा सकता है।

एक समय था जब हिंदी की प्रगति का प्रारंभिक काल भारतेंदु के बाद भी आया और तब हमने अपने प्राचीन पौराणिक ग्रंथों की ओर ध्यान दिया और अपनी नाटकीय सामग्री के लिये उनसे मसाला इकट्ठा किया। जनता में उनकी रुचि भी काफी रही। लोगों ने 'महाभारत', 'अभिमन्यु', 'तिलोत्तमा' आदि नाटक पढ़कर आत्मतुष्टि की। 'कृष्णार्जुन' और 'वरमाला' के सफल अभिनय देखकर वे मुग्ध हुए। फिर इनसे जब कम तृप्ति का आभास मिलने लगा तो हमने पुराणों की ओर से इतिहास की ओर आना प्रारंभ किया। 'दुर्गावती' 'महाराणा प्रताप' आदि हमारे सफल नाटकों में समझे गये। ऐतिहासिक

नाटकों में सबसे सफल और उत्तम प्रयास 'प्रसाद' का है। 'प्रसाद' की नाटकीय कला में हमने सबसे पहिले इतिहास के गंभीर और मौलिक अध्ययन की प्रवृत्ति प्रचुर और श्रेयस्कर रूप में पाई।

इधर सेठ गोविंददासजी ने भी ऐतिहासिक नाटकों का सुन्दर रूप हमारे सामने रखा है। इनके अतिरिक्त हमारी तुच्छ सम्मति में किसी ने ऐतिहासिक सामग्री का सुन्दर उपयोग नहीं किया है। उदयशंकर भट्ट का प्रयत्न सफल प्रयत्न को छूता हुआ नहीं दिखाई देता।

कहने का आशय यह है कि पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों (साहित्य) के पढ़ने से जब हम ऊब से जाते हैं तब सामयिक और सामाजिक नाटकों के प्रादुर्भाव की आकांक्षा स्वभावतः हम में जाग्रत होती है। पौराणिक कथाओं में अब इतनी शक्ति नहीं रही कि वे हमें प्रभावित कर सकें। इतिहास के अध्ययन की ओर से अब रुचि हटती सी जा रही है। आज के कवि, कलाकार, साहित्यिक से आधुनिक युग जीवन का संपर्क, जीवन का संघर्ष, जीवन का समन्वय और विश्लेषण, जीवन की समता और विषमता चाहता है।

पौराणिक आख्यानों को इतने दीर्घकाल ने अब हमारे वर्तमान संघर्षों और जीवन से बहुत दूर फेंक दिया है। हम उस युग की विशेषताओं को हमारे उस पूर्व युग के गौरव को स्वीकार तोकरते हैं किंतु वह हम में उतना स्पंदन, कंपन पैदा नहीं करता। कई ऐसे प्रबल कारण उत्पन्न हो गये है जिनसे इतिहास से भी हमें वैराग्य सा हो गया है। इस विरक्ति का प्रभाव हमारे जीवन पर भी काफी पड़ा है। ऐतिहासिक या सुदूर ऐतिहासिक घटनाएँ हमारे जीवन में धक्के भले ही दे दें, उनसे हमें कुछ प्रेरणा एवं उत्तेजना भी मिल जाय किंतु वे हमारी आज की समस्याओं पर चुप हैं। समस्याएँ, जीवन की विषमताएँ आज बढ़ती जा रही हैं। बहुमुखी हो रही हैं। कुछ अंशों में इतिहास की

पुनरावृत्ति के सिद्धांत को झूठा कर रही हैं । ऐसी परिस्थिति में मिश्रजी ने सामयिकता को अपना कर हिंदी नाट्य-साहित्य में नव जीवन, नव विचार धारा, एक नवीन प्रणाली की सृष्टि कर उसका कल्याण किया है । उपन्यासों और कहानियों के क्षेत्र में हमारे युग के मापदंड के लिये जो प्रेमचंदजी ने कार्य किया वही कार्य मिश्रजी द्वारा भी नाट्य क्षेत्र में संपन्न होता यदि इसमें कतिपय भाव प्रकाश-संबंधी दोष न आ गये होते और इस लेखक ने एक व्यवस्थित और जोरदार भाषा उस विचार धारा के व्यक्त करने के पहिले प्राप्त कर ली होती । जितनी तीव्र विचार धारा का प्रवाह मिश्रजी में हमें मिलता है उसके योग्य उसे अभिधान पहिनाने में लेखक ने प्रयत्न शायद जान बूझकर नहीं किया है । मिश्रजी में हमें हमारे युग की समस्याएँ, माँगें, व्यक्तीकरण, संघर्ष सामाजिक और जातीय दोनों ही बड़े तीव्ररूप में मिलते हैं । दुःख इतना ही है कि इसके नाटकों के अभिनय देखने का अवसर नहीं आया ताकि समुचित रूप से उनका परीक्षण हो सकता ।

मिश्रजी की रचनाओं का एक अभाव

मिश्रजी में एक दोष भी है जो शायद आगे जाकर निकल जावे । वह यह कि उनकी रचनाओं में कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों का ही चित्रण हुआ है । जीवन के कुछ ही अंगों पर प्रकाश डाला गया है । जीवन के विभिन्न और सब प्रकार के पात्रों का समावेश अब तक मिश्रजी से नहीं हो सका है । इसी प्रकार निम्न श्रेणी के पात्रों के चित्रण का प्रायः अभाव है । उनके सब पात्र प्राय जमींदार, धनवान तथा प्रोफेसर हैं । शायद वे इस असंपूर्ण जीवन को पूर्ण करने की चेष्टा करें । इसीलिये जहाँ वे जीवन का संपर्क कला के लिये आवश्यक मानते हैं वहाँ संपूर्ण जीवन तक अवस्था के कम होने के कारण अभी तक नहीं पहुँच पाये हैं । अभी तक कॉलेज जीवन का प्रभाव

लक्षित होता है। वे स्वयं मानते हैं कि कलाकार में विश्व की व्यापक भावनाएँ होना चाहिये; किंतु उनमें अभी वे व्यापक भावनाएँ नहीं आ पाई हैं। एक विशेष स्थल पर टिके हुए अथवा शिक्षित समुदाय में प्रकट होनेवाली विषमताओं का ही प्रदर्शन है।

कहा जाता है कि बरनर्डशा के अनुकरण पर मिश्रजी ने रचनाएँ की हैं क्योंकि उनकी कथा वस्तुएँ राजनीतिक और सामाजिक हैं। उनमे कटु व्यंग्य और परिहास है। किंतु दोनों की रचनाओं के सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात होता है कि उनमें केवल बरनर्डशा का ही अनुकरण नहीं है (यद्यपि इस अति प्रसिद्ध और एक आधुनिक उच्च कोटि के नाट्यकार का अनुकरण बुरा नहीं) किन्तु पाश्चात्य शैली, भावों, समस्याओं, घटनाओं और वस्तु-प्रदर्शनों का भी अनुकरण एवं भारतीयकरण मिलता है। पाश्चात्य नाटक विशेषकर सामाजिक और राजनीतिक आज जिस स्तर पर हैं मिश्रजी ने हिंदी नाट्य साहित्य को उसी स्तर पर रखने की किन्हीं अंशों में सफल चेष्टा की है और इसीलिये उनकी कथावस्तु, समस्याएँ और पात्र ऐसे होते हैं जो उच्च, शिक्षित, जमीदार धनी वर्ग ही में, विशेष कर बड़े-बड़े शहरों के वातावरण में पाये जाते हैं। अभी तक मिश्रजी की पहुँच और दृष्टि इन्हीं तक सीमित रही है और इन्हीं का चित्रण उन्होंने किया है। इसी कारण उनमें कतिपय ऐसी समस्याएँ आ गई है जो आगे यूरोप और अमेरिका के समान भारत में भी उठनेवाली हैं, चाहे मिश्रजी ने जैसा सोचा हो उसके अनुरूप वे न होवें। उन्होंने अपनी कल्पना के आधार पर, पाश्चात्य समस्याओं पर विचार कर भारत में उनका आधार कितना ग्राह्य हो सकता है इसके आधार पर अपने कुछ हल भी निकाले हैं। वे कहाँ तक सत्य होंगे यह भविष्य ही बतायेगा।

एक भ्रांति का निवारण

सन्यासी में ऐसी ही कथा-वस्तु है। यद्यपि वृद्ध-विवाह भारतीय ढंग पर है किंतु वातावरण वही पाश्चात्य है। वृद्ध-विवाह करनेवाले प्रोफेसर दीनानाथ हैं किंतु विवाहित ललना कोई अपढ़ भारतीय नारी नहीं, एक शिक्षित महिला है। दोनों का गठ-बंधन हो जाता है। इसमें सत्यांश अवश्य है। एक समय था और आज भी ऐसी ही अवस्था है।

जटिलता एवं विषमता का चित्रण

"शिक्षकों के बारे में भी दो शब्द। प्रथम श्रेणी का एम्० ए०, प्रोफेसर होने की योग्यता है। चरित्र का संस्कार हो या नहीं। इसी नाटक में (सन्यासी में) एक प्रोफेसर साहब जो अभी नई उमर के हैं एक लड़की से प्रेम करने लगते हैं। उनकी शिक्षा उनके भीतर जो प्रकृति है उसे दबा नहीं सकी। दूसरी ओर एक दूसरे महाशय, जिनकी अवस्था पचास से भी अधिक है और जिनका सारा जीवन साहित्य की शिक्षा देने में बीता है, जवान लड़की से विवाह करते हैं उसकी तृप्ति उनसे नहीं होती। इस प्रकार जीवन जटिल और विषम हुआ है।" (मिश्रजी)

इसी जटिलता और विषमता का, विश्वकान्त और मालती के प्रणय प्रेम एवं किरणमयी और मुरलीधर के मानसिक सघर्ष और अन्तर्द्वंद्वों का सुन्दर चित्रण हुआ है। लेखक के मस्तिष्क में जो कॉलेज जीवन के चित्र, जो प्रभाव, अंकित हुए हैं उनका यथातथ्य चित्रण तो है किंतु उनमें परिपक्वता की कमी विद्यमान है। चरित्र-चित्रण अधूरा है। कई अस्वाभाविकताओं की सृष्टि भी लेखक ने इसीलिये कर डाली है।

मिश्रजी में कई दोषों के बावजूद भी जो एक सब से बड़ी बात पाई जाती है वह है उनकी सजीवता। लेखक में जीवन, यौवन, छटपटाहट, संघर्ष, द्वन्द्व, विचार-धारा बड़ी तीव्रता से दौड़ती है। उसके जीवन का वह रस अपनी रचनाओं में जहाँ तक हो सका है पूर्णतया ढाल सका है। इसीलिये

सजीवता

उसकी कथावस्तु पौराणिक तथा ऐतिहासिक न होकर सामाजिक और राजनीतिक है। यद्यपि जीवन के बहुत कम अंगों का चित्रण वह अभी तक कर पाया है किंतु जितने सीमित क्षेत्रवाले जीवन का उसने चित्रण किया है उसमें उसका जीवन, जीवन की सजगता, ओज, संघर्ष और द्वन्द्व, विषमताएँ और जीवन-समन्वय भी पाया जाता है। वह स्वयं लिखता है, "जिसे जीवन की कल्पना करनी है—जीवन का निर्माण करना है जीवन की अभिव्यक्ति करनी है, वह इतिहास के गड़े मुर्दे नहीं उखाड़ सकता। जिन सामाजिक और राजनीतिक बन्धनों के भीतर हमारी आत्मा आज छटपटा रही है, यदि हम चाहें भी तो उनका समावेश इतिहास के महान् चरित्रों में नहीं करा सकते। इस कारण हमें हार कर सामाजिक चरित्रों की कल्पना करनी पड़ेगी।" लेखक ने ईमानदारी, सच्चाई और अपनी योग्यता एवं मानसिक विकास के जिस स्तर पर वह था वहाँ तक यही किया है। इसीलिये उसने ऐसे पात्रों के "उन चरित्रों की जिनके हृदय की धड़कन हमारे हृदय की धडकन में मिल सके" सृष्टि की है। लेखक ने रोम्याँ रोलाँ के कथन का अवतरण दिया है। "प्रेम और कला के विषय में दूसरों ने क्या कहा है यह पढ़ना व्यर्थ है। हम वही कह सकते है जो हम अनुभव करें और वे जब तक कि उन्हें कुछ कहना नहीं होता और कहने में जल्दी कर बैठते हैं कुछ भी नहीं कर पाते।" इसमें मैं लेखक से बड़े अक्षरों को छोड़ कर शेष से सहमत हूँ। बड़े अक्षरों के संबध में यही है कि लेखक कुछ कह भी पाया है। अपने को, अपनी कला और विचार-धारा को व्यक्त भी कर पाया है।

"कला का निर्माण कला के लिये" और सोद्देश्य लेखन में जब प्रतिभाशाली लेखक लिखते हैं कोई अन्तर नही होता। केवल दृष्टिकोण का ही अन्तर रह जाता है। देखने से यह अवश्य मालूम पड़ता है

लेखक का चिंतन और चिंतन के प्रकाशन की शैली

कि लेखक ने प्रेमचन्द के समान सोद्देश्य लिखा है, किंतु सूक्ष्म अवलोकन के आधार पर यथातथ्य चित्रण जिसमें लेखक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भी भाग न लेवे । 'कला कला के लिये' की ही श्रेणी में आ जाता है । इस दशा में भी लेखक सोद्देश्य रचता हुआ भी जीवन का पूरा सानिध्य प्राप्त कर लेता है। मिश्रजी से ऐसा ही हुआ है।

मिश्रजी पर जो पाश्चात्य समस्याओं का प्रभाव पड़ा है, जो भारतीय वातावरण में अभी तक अत्यल्प रूप में ही आई हैं और जो शिक्षित समाज एक विशिष्ट समूह में ही सीमित है, उन पर उन्होंने विचार करना अभी से प्रारम्भ कर दिया है। ये समस्याएँ निकट भविष्य में ही अपने तीव्रातितीव्र रूप में हमारे समक्ष आनेवाली हैं। मिश्रजी ने इन्हें ठीक समय पर ग्रहण कर उनका भारतीयकरण किया है और एक साहित्यिक को किस प्रकार तात्कालिक परिस्थितियों से आगे बढ़ कर पथ-प्रदर्शन करना चाहिये इसका आदर्श हमारे सामने रखा है। कलाकार एक बड़ा भावुक और ग्रहणशील हृदय लिये रहता है तथा युग की समस्याओं को जो उस समय रहती हैं और जो भविष्य का आभास देती हैं या भविष्य में सामने आनेवाली होती हैं उन पर प्रकाश डालता है। मिश्रजी ने यही किया है।

लेखक ने सोद्देश्य लिखा है। उसके निश्चित सिद्धान्त हैं और वह अपने को कलाकार नहीं तत्वदर्शी कलाकार कहता है। उसकी रचनाओं, कलाओं में उसका चिंतन है; किंतु अभी वह उच्च कोटि का नहीं हो पाया है। उसके चिंतन में कतिपय दोष भी हैं। उसने समस्याओं के हल केवल समझौते के ही रूप में रखे हैं। जीवन में इनका महत्व अवश्य है किंतु प्रभाव इनके विरुद्ध होता है। समस्याएँ जीवन के अभावों को कम कर सकती हैं, जीवन को जीवन की परिधि में घेरे रह सकती हैं,

किन्हीं अंशों में सुख और आनन्द की सृष्टि भी करती हैं। जीवन को महत् और पूर्ण बना सकती हैं। किंतु ऐसा होता नहीं। क्यों ऐसा होता नही? इनके स्थान पर विषमताओं और जटिलताओं की सृष्टि क्यों हुआ करती है? मनुष्य जान कर भी इनमें क्यों फँसता जाता है और अन्त इनमें से निकलने में क्यों असमर्थ पाता है? वह जीवन में समझौता जिसका करना उसके लिये अनिवार्य और आवश्यक होता है क्यों नहीं कर लेता? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका विवेचन उसके समान तत्व-दर्शी कलाकार को करना चाहिये। लेखक ने इन्हीं के विवेचन के लिये पाश्चात्य ढंग पर मनुष्य में देवता और राक्षस की सृष्टि की है। कभी देवता उसका पथ-प्रदर्शन करता है और कभी राक्षस। कभी सद्प्रवृत्ति उसमें जाग्रत होती है और कभी असत्।

प्रेमचन्द के समान इस लेखक की भी एक बड़ी भारी खूबी है वह यह कि इसने मानव-जीवन के नारी-जीवन भी जिसमें सम्मिलित है--कोमल से कोमल भागों को भी स्पर्श किया है और वहाँ से वह सफलता, अश्लीलता और सुन्दरता के साथ निकल आया है। क्षुद्र कोटि के लेखकों के समान वह केवल बिजली के धक्के, प्रेम का उन्माद नहीं देता। उनमें जीवन का सार भाग, सुन्दरता और गौरव की सृष्टि करता है। ऐसे स्थलों को, कुछ क्षीण अश्लीलता के होते हुए भी वह महत् बना जाता है। अपने आदर्श और उद्देश्य से गिरता नही।

लेखक का जो उद्देश्य उसकी रचनाओं में है वह उसी के शब्दों में पूर्णतया व्यक्त हो जाता है। इसलिये उसके उद्धरण देना अच्छा है। वह लिखता है, "मैंने जो अनुभव किया है, देखा है उसे ····नाटक के रूप में तुम्हारे सामने रख देता हूँ। यथार्थ --ज्यों का त्यों—ईमानदारी के साथ।" चरित्रों के संबंध में, "मैंने अपने चरित्रों को यथाशक्ति जीवन के

अनुकूल बनाया है। उनके हँसने में और उनके रोने में तुम्हें अपने जीवन की बातें मिलेंगी।" "मैंने जानबूझ कर मनोरंजन के लिये या धोखा देने के लिये किसी को पापी और किसी को पुण्यात्मा नहीं बनाया है। मैंने अपने चरित्रों को जिंदगी की सड़क पर लाकर छोड़ दिया है। वे अपनी प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के चक्करदार घेरे में होकर रुकते हुए, थकते हुए, ठोकर खाते हुए आगे बढ़ते गये हैं और मैं बराबर एक सच्चे जिज्ञासु की तरह उनके पीछे बड़ी सावधानी से चलता रहा हूँ। मैंने उन्हें देखा है और समझा है उनकी सभी बातों को, उनकी सारी जिंदगी को।" "हमारा-तुम्हारा या सब किसी का सत्य इसमें नहीं है कि हम सब क्या थे या क्या हैं? बल्कि इसमें है कि हम सब क्या होंगे? हमारा सत्य हमारे भविष्य में है।" "जहाँ मुझे विश्वास नहीं हो सका, वहाँ मैंने अविश्वास प्रकट किया।" "मैंने विद्रोह करने के लिये विद्रोह नहीं किया है।" "पश्चिमी शिक्षा, पश्चिमी आदर्श, पश्चिमी जीवन हमारे रक्त में विषैले कीटाणु की तरह प्रवेश कर हमें अशान्त बना रहे हैं हम समझते हैं विकास हो रहा है। भिन्न-भिन्न शक्तियों के विकास का अवसर यहाँ नहीं।" लेखक ने अपनी नाट्य-रचनाओं में इन्हीं को व्यक्त करने की चेष्टा की है। (राजा महेन्द्र-प्रतापसिंह के आधार पर 'सन्यासी' में विश्वकान्त का चरित्र और एशियाई संघ के स्थापना की कल्पना भी की है। भारतीय संघ ही एक बड़ा काम कर सकता है। भारत और चीन का मतलब है आधी दुनियाँ। राजनीति तो राष्ट्रों के स्वार्थ और स्वहिताहित पर निर्भर रहती है और जापान ने इसका प्रबल और पुष्ट उदाहरण सामने रखा है।)

मिश्रजी की गति निम्न कोटि के पुरुष-पात्रों के चरित्र-चित्रण और उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में प्रायः बिल्कुल नहीं है। ऐसे पात्रों की ओर उन्होंने या तो सूक्ष्म दृष्टि से देखा ही नहीं है

मिश्रजी के निम्न पात्र

अथवा उनकी ओर उनका ध्यान ही नहीं गया है। 'असगरी' और 'सुखिया' के चरित्र-चित्रण में अवश्य एक सीमा तक वे सफल हुए हैं किंतु साधारण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है, तह तक पहुँच नहीं। पुरुष पात्रों में, 'सन्यासी' में मोती, 'मुक्ति के रहस्य' में जगई और 'राजयोग' में गजराज है।

निम्नपात्रों का चरित्र-चित्रण और उनमें मनोवैज्ञानिकता का अभाव

मोती मालती के पिता उमानाथ का व्यभिचारजन्य एवं पौष्य-पुत्र है। वह मालती का मोटर-ड्राइवर है। इसका चित्रण बिलकुल अधूरा और अस्पष्ट है। वह बचपन से इन्हीं के घर में पला-पुसा है शायद इसीलिए वह अपने को नौकर नहीं समझता हो। मनुष्य में स्वाभिमान रहता ही है। नौकर होते हुए भी उसमें स्वाभिमान है। किंतु मोटर ड्राइविंग कोई सम्माननीय पेशा नहीं। वह घर में इतना मुँह लगा शायद होगा कि मालती से भी बराबरी की और घर के समान बातें कर सके। किन्तु एक साधारण-सी धटना पर उसके स्वाभिमान का एकाएक सीमांत पर चढ़ जाना अस्पष्ट है; विकास की सूचना नहीं देता। कभी एकाएक ठेस किसी बात से अवश्य लग जाती है किन्तु निम्न श्रेणी में रहते हुए एकाएक उस पर ठेस पहुँचना जरा विचारणीय है। वह कहता है, "मैं नौकर हूँ" जैसे उसने अब तक अपने को नौकर न समझा हो।

इसी प्रकार से गजराज के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में भी मिश्रजी सफलता से कहीं दूर है। इसमें संदेह नहीं मनुष्य का हृदय, विशेषकर एक निष्कपट, निष्कलंक, पुण्यात्मा, सदाचारी का हृदय अपने किये हुए पाप पर अवश्य पछताता रहता है। हमेशा उसका मस्तिष्क हृदय की पुकार पर विचलित हो-हो उठता है। किंतु गजराज का (राजयोग में) अनुताप एकदम जाग्रत हो गया है। पहिले इस प्रकार का अनुताप उसे

रहा जरूर है। यह पात्रों के कथन से ज्ञात तो होता है किन्तु उसका इतना वाह्य-रूप कभी पहिले प्रकट नहीं हुआ था। उसी दिन और उन्हीं दिनों में वह इतना प्रबल हो उठता है कि वह क्या माया, क्या शत्रुसूदन और क्या रघुवश सब पर पहेली-सी बुझाता हुआ प्रकट करता रहता है। इसका स्पष्ट कारण कथावस्तु से ज्ञात नहीं होता कि सहसा उसकी यह मनोव्यथा क्यों चरम सीमा पर पहुँच गई जिसके दबाने में वह असमर्थ हो उठा और अपने राजा, रानी और दीवान के सम्मुख भी बड़े ही विकृत रूप में प्रकट करने लगा। साथ ही उसमें एक विचित्रता आ गई है वह यह कि सबके दुःखों का कारण वह स्वयं अपने को समझने लगा। वह सब पर इसे मौके-बे-मौके प्रकट भी करने लगा जैसे वह पागल हो उठा हो और उसकी ज्ञानेंद्रियों ने एकदम अपना काम छोड़ दिया हो। अन्त में जाकर ऐसा ज्ञात होता है कि जो कथावस्तु रघुवंश के दुःख से शुरू हुई, शत्रुसूदन और माया के आत्मिक द्वन्द्वों में से गुजरी, वही गजराज की चरमसीमा के अनुताप में और उसके अनुताप के निवारण में समाप्त होती है। इस प्रकार तीन स्थलों पर वह त्रिमुखी हो उठी है और बाद में गजराज के चित्रांकण पर जोर देकर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को दोषपूर्ण बना देती है।

इसी प्रकार के चरित्रों में हम 'मनोजशंकर' और 'माहिरअली' को भी ले सकते हैं। मनोवैज्ञानिक सत्य को मिश्रजी पहिचान तो लेते हैं किंतु उनसे उनका विश्लेषण और चित्रण नहीं हो पाता। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अस्वाभाविकता ही अस्वाभाविकता रहती है। ऐसे पात्रों में अवश्य ही एक खटक रहती है, उनके दिमागों में बेचैनी रहती है। उनके हृदय में एक टीस रहती है। यह सत्य है। किन्तु उनका स्पष्टीकरण बड़ा ही विचित्र होता है जो कि मानसिक क्रिया से परे की बात हो जाता है। लेखक की पर्य्यवेक्षण एवं तह तक पहुँचने की शक्ति का ऐसे

पात्रों में सर्वथा अभाव पाया जाता है। ये बातें तो प्रेमचन्द ही में मिलती हैं कि वे पात्रों और घटनाओं की सृष्टि कर उनका सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जैसा चाहिए वैसा, बारीकी से बिना अस्वाभाविक हुए चित्रण करते चले जाते हैं। मिश्रजी ने अभी संसार को खुल कर नहीं देखा है। वे उसमें ऐसे पात्रों के चरित्रों में स्वयं नहीं रमे हैं। केवल साहित्य के आधार पर उन्होंने ऐसे पात्रों की सृष्टि की है।

'मनोजशंकर' को एक बेतुकी धुन सवार है। उसके पिता को मरे दस वर्ष व्यतीत हो गये। उस समय वह बहुत छोटा था। उससे कहा गया कि वे नदी में डूब गये हैं। वह सोचता है उन्होंने आत्मघात कर लिया है? दस वर्ष से उसके मस्तिष्क में यही गैस पैदा हो गई है जो उस सदृश कवि-हृदय और मस्त रहनेवाले युवक को बार-बार बेचैन कर देती है। हमेशा उसे यही खयाल रहता है कि मेरे पिता ने आत्म-हत्या क्यों की? मैं आत्म-घाती पिता का पुत्र हूँ, किसी योग्य नहीं। संसार में कुछ नहीं कर सकता। यही बेचैनी उसे सताया करती है। मौके-बे-मौके 'मोती' और 'गजराज' के समान वह भी इसे प्रकट करता है। कभी कभी तो उसका प्रकट करना भौंडा और अरुचिकर हो जाता है। ('सिंदूर की होली' में लेखक भाव-प्रधान भी हो गया है जिसमें व्यापार और घटनाएँ कम हैं; विचार अधिक। वे भी कवित्व एवं गद्य-काव्य पूर्ण, किंतु सुन्दर, व्यंग्यपूर्ण, मार्मिक और तीव्र।)

इन्हीं में 'माहिरअली' है। वह डिप्टीकलक्टर मुरारीलाल का मुंशी है। 'मनोजशंकर' के पिता की हत्या मुरारीलाल ने की है। उसके सहयोग और जानकारी से। किन्तु वह सोचता है या उसे यह धमकी दी गई है कि यदि वह प्रकट कर देगा तो उसे फाँसी होगी। एक तो उसे यह डर था ही और साथ ही वह इतना भोला भी है कि उसने समझ लिया कि उसकी सहायता के कारण ही घातक तो बच जायगा और उसे फाँसी चढ़ना

होगा, यह बात कुछ जँचती नहीं। वह भोला हो सकता है, किन्तु एक डिप्टी कलक्टर का मुंशी होकर बुद्धू नहीं। फिर वह मुसलिम पात्र है जिसका स्वभाव ही ऐसा नहीं। ऐसा यथार्थ मुसलिम पात्र तो वह होता जो डिप्टी कलक्टर मुरारीलाल को अपने हाथ में लिये रहता। इसका ही चित्रांकण ठीक होता। किन्तु बात सर्वथा इससे उल्टी हुई है। इसी प्रकार उसकी मानसिक खटक भी अन्य ऐसे पात्रों के समान ही बेतुकी, मनोवैज्ञानिकता, स्वाभाविकता और वास्तविकता से दूर की हुई है।

मिश्रजी का नारी-चित्रण

नारी युग-युग से सृष्टि के प्रारम्भ से प्रताड़ित होती रही है। उसे पुरुष ठुकराता, निम्न समझता, उसे 'पाँवों की जूती' और अपनी वासना तृप्ति एवं उपभोग की वस्तु समझता आ रहा है। पुरुष ने नारी का सम्मान भी किया, उसे श्रेष्ठ भी समझा, किंचित कभी-कभी उसमें उसने माता, भगिनी और पुत्री का रूप भी देखा किन्तु उसमें सदा व्याप्त रहनेवाली नारी की उसने सदा अवहेलना ही की। स्त्री-रूप में ग्रहण कर उसने प्रमदा, लक्ष्मी, रमा, सखा, मित्र, कामदा, सरस्वती कहा। उसने उसके षोडसी रूप की पूजा की। उस समय उसने लुभाया, फुसलाया और सिर पर बैठा लिया। किन्तु इसके बाद मातृत्व के स्थान पर बिठा कर वह उससे डरा, सशंकित रहा, आत्मार्पण भी उसने किया, अवसरों पर पराजित भी वह हुआ किन्तु उसने यह कभी नहीं भुलाया कि वह पुरुष है और वह नारी। वह श्रेष्ठ है और वह निम्न। वह शक्तिशाली है और वह निर्बल। वह कर्ता-धर्ता, पोषक और विजयी है तथा वह क्रियमान, पोष्य और पराजित। सृष्टि रचना करना उसका काम है और सृष्टि की धात्री बनना नारी का।

पुरुष के विकास में नारी ने कई युग देखे। आदि युग में नारी नर की निर्बल साथी रही। विकास के प्रारम्भिक युग में वह उसकी संतान

की पोषिका और रचिका, स्वर्ण युग में वह उसकी वासना और उपभोग की सामग्री, मध्य युग में वह वीर व्रती किन्तु निर्बल, असहाय, दुखी और पुरुष की मूर्खता, अहमन्यता और पाखंड की शिकार। आज, आज भी वह, सभ्यता, विज्ञान, विकास के युग में आदरणीय उपभोग्या, सोने की जंजीरों से जकड़ी हुई दासी, परकाटी हुई स्वामिनी, प्रकृति पराजित शिक्षिता, कानून की रूह से धन और अधिकार प्राप्त करनेवाली भिखारिणी मनुष्य की मनुष्यता से विवश, मनुष्य के विष और गर्मी को पचानेवाली; ऐसी ही तो है न वह नारी।

मनुष्य अविवाहित रह कर संतुष्ट रह सकता है परन्तु वह अविवाहित रहता नहीं। स्त्री अविवाहित रह कर मनुष्य की अहमन्यता को चुनौती दे सकती है किन्तु ऐसा वह कर नहीं सकती, यही तो विषमता है और विवाह को उत्तेजना देती है। जिस दिन विवाह का जन्म हुआ उस दिन नारी ने अपने स्वार्थ अपनी भलाई के लिए अपना पथ प्रशस्त किया। जान बूझ कर मनुष्य की उच्छृंखलता, उद्दंडता को दमन करने के लिए, उसके विष और गर्मी को आत्मसात् करने के लिए बंधन मोल लिए। विवाह किसी नारी मस्तिष्क की ही उपज मालूम पड़ती है। उसने देखा होगा यह उत्पाती, स्वतंत्र-नर, गोरिल्ला युद्ध करता है; सामने नहीं आता। तब उसने नर को पराजित करने के लिए नवीन युद्धास्त्र, नाग फाँस का निर्माण किया। किन्तु उसका यह दृढ़तम और सर्वोत्तम शस्त्र अब जंग खा गया है, बिगड़ गया है, अधार, कुंठित और पुराना हो गया है। मनुष्य उसके इस शस्त्र से, इस शस्त्र की कलाओं से भी अब परिचित हो गया है। आज वह फिर चाहता है कि खुल कर खेले। वह चाहता है नारी स्वतंत्र होकर उससे शोषित बनी रहे। उसकी स्वतंत्रता में उसका कल्याण है। वह अनुत्तरदायित्वपूर्ण शासन चाहता है। नारी की प्रकृति का अनुचित लाभ उठाना चाहता है।

उसमें जो गल जाने की, पिघल जाने की, आत्मार्पण करने की, पुरुष की अंकशायिनी बन जाने की भावना है उससे वह पराजित होकर भी अपनी अहमन्यतावश विजयी कहलाना चाहता है। नारी-स्वातंत्र्य-आन्दोलन आज इसी का तो परिणाम है। क्या नारी स्वतंत्र होकर सुखी होगी? क्या सुखी हुई है? क्या सुखी हो रही है? क्या स्वतंत्र होकर संघर्षों, द्वंद्वों और समस्याओं को उसने जन्म नहीं दिया है? तब वह क्या करे? स्वतंत्र रहना उसके लिए हित कर नहीं। बंधन सहित वह सुखी नहीं। यही तो विषमता है। इसी समस्या का आभास हमें मिश्रजी में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

नारी स्वेच्छा से विवाह करती है तो वह कई मूर्खताएँ कर सकती है; भ्रांत धारणाएँ बना सकती है। पिता यदि उसे समर्पित करता है तो वह आज पूर्ण निस्वार्थ नहीं रहा। शायद वह पूर्ण निस्वार्थ नहीं रह सकता। उसके साथ उसका वातावरण है, उसका समाज, उसका समुदाय है। उसका पाखंड उसकी अहमन्यता (Vanity) है। और यदि उसमें पुत्री के दृष्टिकोण से विचार करने की क्षमता का अभाव है तो वह सर्वनाश कर सकता है। तब नारी क्या करे? उसकी प्रकृति उसे पुरुष की ओर आकर्षित करती है। वह जल्दी गल जाती है, पिघल जाती है। भुलावे में आ जाती है तो अपने स्वास्थ्य का सर्वनाश करती है। वह ठहरती है तो पतित होने की सम्भावना रहती है; वह बेचैन रहती है। कुमारी होकर वह मूर्खता करती है। तरुण होकर वह अपने को संभालने में विवश पाती है। प्रौढ़ होने पर मनुष्य उसकी ओर देखना नहीं चाहता। अब वह मनुष्य को नचा सकती है, खिला सकती है, पराजित कर सकती है किन्तु प्रेम नहीं पा सकती। अब मनुष्य उसे चाह सकता है इसलिए नहीं कि वह उससे प्रेम करता है किन्तु इसलिए कि अब वह उसकी सँभाल कर सकती है, उसकी संतान का लालन-पालन

कर सकती है। उसके सुखों के साधनों को सरलता से जुटा सकती है। उसके घर और संपत्ति की रक्षा कर सकती है अर्थात् उसकी अनिवार्य आवश्यकता हो उठती है। ये समस्याएँ हैं जो नर एव नारी के सहयोग-असहयोग, इच्छा-अनिच्छा से हल की जाती रही हैं। उन्हें करना पड़ता रहा है।

'सन्यासी' और 'मुक्ति का रहस्य' में नारी समस्या का ही प्राधान्य है और 'राक्षस का मन्दिर', सिंदूर की होली', 'राजयोग' और 'आधी-रात' तो सर्वथा नारी-समस्या-मुलक नाटक ही हैं।

मिश्रजी के नारी-पात्रों को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। एक तो वे जो सामाजिक रूढ़ियों एव अत्याचारों के कारण दुखी हैं। इनमें 'किरणमयी' ('सन्यासी'), 'मनोरमा' ('सिंदूर की होली'), 'दुर्गा' ('राक्षस का मन्दिर') और 'चम्पा' (राजयोग) इसी श्रेणी में आते हैं। दूसरे वे जो पाश्चात्य अथवा आधुनिक शिक्षा एव वातावरण की उपज हैं। इनमें 'असगरी' एवं 'ललिता' ('राक्षस का मन्दिर') 'आशादेवी' ('मुक्ति का रहस्य'), 'चन्द्रकला' ('सिंदूर की होली'), 'मायावती' (आधीरात') और 'मालती' ('सन्यासी') हैं।

किरणमयी वृद्ध विवाह की प्रतिक्रिया है। वृद्ध प्रो० दीनानाथ योग्यता और शायद धन-बल पर उससे विवाह करने में समर्थ होते हैं।

वृद्ध-पत्नी किरणमयी

वह उन्हें बिलकुल नहीं चाहती। तरुणी एक वृद्ध को कैसे चाह सकती है? तरुणाई तो तरुण को, खिलवाड़ों, स्वनिर्मित मूर्खताओं और अज्ञानताओं को, भूलों को पसन्द करती है। फिर नारी के समक्ष धन और योग्यता का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। नारी तो नर को चाहती है। पुरुषत्व की अपेक्षा करती है। वह विवाह के पहिले ही मुरलीधर को चाह चुकी थी। एक तरुणी में पिता तुल्य पति के लिए

क्या प्रेम हो सकता है ? उसमें प्रो० दीनानाथ के प्रति खीझ है, झुँझलाहट है। प्रो० दीनानाथ का ठंडे रक्त से चुम्बन करना तरुणी किरणमयी में गर्मी पैदा करने में सर्वथा असमर्थ होता है। वह सोचती है शायद विवाह इसीलिए, नारी के शरीर को उपभोग्य बनाने के लिए ही तो होता है। तो वह उसका उपभोग करले। ऐसे विवाहों में प्रेम को कहाँ स्थान मिल सकता है ? इसीलिए उसकी तिलमिलाहट, उसके हृदय की जलन और कुढ़न बड़े ही मार्मिक ढंग से व्यक्त हुई है।

एक स्थल पर "मेरा शरीर पत्थर नहीं है।" एक अन्य स्थल पर यह बुड्ढा बनावटी प्रेम करता है या प्रेम का खिलवाड़ करता है। वह कहती है, कहती है क्योंकि वह सोचती है कि विवाह ने उसके शरीर पर दीनानाथ का अधिकार कायम कर दिया है। वृद्ध में प्रेम तो हो ही नहीं सकता, उसमें गर्म खून ही नहीं तो वह रस का प्रवाह, प्रेम की गर्मी कहाँ से लाये। इसका प्रतिफल भी शरीर ही हो सकता है, हृदय नहीं। वह मानती है शरीर पर आपका पूर्ण आधिपत्य है और कहती है, "कोई समय नियत करलो। मैं अपने शरीर को लेकर तुम्हारी सेवा में उपस्थित हो जाया करूँगी जो इच्छा हो।..... " वृद्ध की तरुण-पत्नी इससे अधिक और क्या कर सकती है ? यह भी उसका सबसे बड़ा त्याग है।

मिश्रजी वृद्ध पुरुष की तरुणपत्नी की मनोदशा पूर्ण रूप से किरणमयी में अंकित कर सके हैं। आप कितना भी उच्चादर्श रखिये। शरीर और शरीर के साथ उसका धर्म उसके साथ रहता ही है। शरीर को वह कहाँ रख आ सकती है। मस्तिष्क को वह वश में कर सकती है, संयमित कर सकती है किन्तु वह हृदय को कैसे वश में कर सकती है ? इसलिए किरणमयी का चरित्र आगे भी सर्वथा अनिंदनीय है। उसका प्रेमी मुरलीधर नाम धारण कर यहाँ भी आ जाता है। इनके मिलने पर पूर्व प्रेम सोया नहीं रह सकता। सत्य तो यही है।

सदाचार और आदर्श चाहे जितनी त्याग की डौंडी पीटें। यही होता है आगे जब मुरलीधर उसके घर पर आते हैं वह उनसे एकान्त में मिलती है, उसकी मरणासन्न अवस्था में जेलखाने में निसंकोच पहुँचती है। वह अपने को रोक नहीं पाती। उसका प्रेम कलुषित नहीं हुआ। वह सर्वथा निर्दोष है। उसके चरित्र में असदाचार को प्रश्रय नहीं मिला ।

किरणमयी का चरित्र वहाँ चरम कोटि पर पहुँच गया है जहाँ संपादक मुरलीधरजी से उसके प्रेम एवं अनुचित संबंध होने का संदेह उन्हें हो जाता है। इसमें प्रेम तो वह स्वीकार कर लेती है। और अनुचित संबंध के संदेह का वह निवारण करना चाहती है। प्रेम तो हृदय की वस्तु है वह हटाई नहीं जा सकती। इसीलिए वह इतनी स्वतंत्रता उनसे चाहती हैं कि उसे अपने प्रेमी मित्रों से मिलने दिया जाय जिस तरह वे अन्य महिलाओं और मेमों से मिलते फिरते हैं। उसका शरीर पवित्र है और उनके साथ वह शरीर के संबंध को ही स्वीकार करती है। मुरलीधर से कही हुई यह बात कि "हम लोगों का खून जलता है आप लोग समझते हैं रोशनी हो रही है। सचमुच पुरुष स्त्री के मन की बात जान नहीं सकते" न केवल दीनानाथ पर, पर सारे पुरुष समाज पर घटित होती है।

इसी प्रकार एक भारतीय विधवा का सुन्दरतम आदर्श और याथातथ्य चित्रण हमें 'मनोरमा' में मिलता है। मनोरमा बाल-विधवा है।

वैधव्य चित्रण

बाल-विधवा और वृद्ध की पत्नी सब को आकर्षण करने की वस्तुएँ होती हैं। प्रथम का कोई रक्षक नहीं है लावारिस धन है। दूसरी अराजक भूमि मे निर्बल के हाथ बहुमूल्य संपत्ति। द्वितीय की अपेक्षा प्रथम का मार्ग दुरूह, अधिक भयावह तथा कठिनाइयों से घिरा हुआ होता है। द्वितीय यदि आदर्श से

च्युत हो जाय तो पति की ओट में सब कुछ कर सकती है। उसकी ढाल उसका संरक्षक, उसका वृद्ध पति मौजूद रहता है। किंतु बाल-विधवा के लिए केवल आत्म संयम के कोई अन्य मार्ग नहीं। मनुष्य संसर्ग करके, व्यभिचार करके, अछूता रह जाता है और नारी ससर्ग कर शरीर के धर्म के कारण, गर्भवती होकर, त्याज्य, अवहेलित और अपमानित होती है। भारतीय वातावरण में उसके लिये कोई स्थान नही। वह पुरुष की दया पर, ललचाई हुई आँखों और पाखंडी, दुराचारी, विशेषकर अतर-दुराचारी पुरुप-पिशाचों के मध्य में बड़ी कठिनाई से अपने शरीर की रक्षा कर सकती है। उसकी गति साँप छछूँदर की सी हो जाती है। समाज उसे विवाह करने देता नही। विवाह की पवित्रता वह पति ढूँढ़ कर कायम रख नही सकती। समाज के वातावरण में, शरीर का धर्म, उसकी तरुणाई उसे अपने पथ पर जो स्वाभाविक, सच्चा, लौकिक है - खींच लाना चाहती है। ऐसी अवस्था में वह अबला, नारी और फिर वाल-विधवा क्या करे? यदि वह आत्मघात कर लेती है तो वह निर्दोष है, निष्कलंक है, स्वर्ग की अधिकारिणी है। हमारा कानून उसे रोके नहीं जब तक वह उसके लिये उसके व्यक्ति के लिये, शरीर के लिये पूर्ण संरक्षण नहीं दे देता है।

मनोरमा का जब विवाह हुआ तब वह आठ वर्ष की थी। दस वर्ष की अवस्था में वह विधवा हुई, अब वह अठारह की है; चन्द्रकला के आग्रह पर डिप्टी-कलक्टर मुरारीलाल के यहाँ आ गई है। वे विधुर हैं इसलिये संरक्षण तो मनोरमा को देते हैं, किंतु उनकी वासनामयी दृष्टि भी विधवा होने के कारण उस पर पड़ जाती है। यही हाल मनोजशंकर का है। वह भी चन्द्रकला से विरक्त होता है, मनोरमा को चाहने लगता है। किंतु भारतीय वाल-विधवा मनोरमा सब से विरक्त, सब से

अलग। "जिस वस्तु का अनुभव हुआ ही नहीं ·······उसके अभाव का दुःख क्या?" उसे। वह तो अपना आत्म-संतोष कला की आराधना द्वारा पूरा कर लेती है। उसमें कवित्व, कलात्मकता कूट-कूट कर भरी है। इसी के आधार पर उसने इतना समय निकाल दिया आगे कला का स्थान भगवत्-पूजा को वह देना चाहती है। चित्रकला की आराधना के संबंध में वह कहती है, "कला की साधना अपने विचार से नहीं होती। गुलाब खिल रहा था, वसन्त आ रहा था, आधी रात को पूर्णमासी का चन्द्रमा धरती की ओर देख रहा था उसे देख कर मेरी कल्पना और भावना उत्तेजित हो उठी मैंने उसका चित्र बना दिया।"

पुरुषों के संबंध में वह सोचती है, "पुरुष आँख के लोलुप होते हैं, विशेषतः स्त्रियों के संबंध में, मृत्यु-शैय्या पर भी सुन्दर स्त्री इनके लिये सब से बड़ी लोभ की चीज हो जाती है।" मनोरमा के इन शब्दों मे मिश्रजी कितना व्यापक सत्य अंकित कर सके हैं।

"·········पुरुष के लिये प्रायश्चित करना पड़ता है स्त्री को। स्त्री-जीवन का सब से सुन्दर और कटु सत्य यही है। दुर्गा

दुर्गा

मुनीश्वर की स्त्री ('राक्षस का मन्दिर' में) ऐसी ही एक पतित्यक्ता दुःखिता नारी है। अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण उसका तरुण पति उसे छोड़ जाता है। अन्य से प्रेम करने लगता है। उसका जरा भी ख्याल नहीं। यही तो पुरुष किया करता है। उसका जीवन गुप्तजी की इन दो प्रमुख पंक्तियों में गर्भित है। "अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी। आँचल में है दूध, और आँखों में पानी॥"

दूसरी श्रेणी के चरित्रों में 'मालती' (संन्यासी) का स्थान है। उसमें एवं विश्वकान्त में जो अन्तर्द्वन्द्व चलता है, जो प्रेम व्याघात

कतिपय अन्य पात्राएँ

होता है, जो प्रेम की प्रतिक्रिया होती है, वह मानवोचित, मनोवैज्ञानिक एवं यथातथ्य है। (इसी प्रकार किरणमयी और मुरलीधर में भी आत्मिक द्वन्द्व चलता रहता है। दोनों प्रेम करते हैं। दोनों त्याग करते हैं। दोनों वासनाओं से बच कर, अन्तर्विद्रोह को दबा कर भी कलुषित नहीं हो पाते हैं यद्यपि एक-दूसरे से मिलने, बात-चीत करने में उन्हें तृप्ति का अनुभव होता है।)

चन्द्रकला—नारी-स्वभावजन्य भावुकता का चित्रण

चन्द्रकला भी आधुनिक शिक्षा और पाश्चात्य वातावरण में पली भारतीय कन्या है। चन्द्रकला में भावुकता की चरम सीमा है और वह मानवजीवन में, नारी में जो विषमताएँ हैं उन्हें समुचित रूप से व्यक्त करती है। उसका प्रेम प्रथम-दर्शन का है। मनोजशंकर उसे चाहता था। वह भी उसे चाहती रही थी किंतु वह उससे अपनी विरक्ति प्रकट करने लगी। रजनीकान्त की मधुर मुस्कराहट ने उस पर एक क्षण ही में अधिकार कर लिया। वह जानती थी रजनीकान्त विवाहित है। उसे एक छोटा पुत्र भी है। किंतु मानव-हृदय और फिर स्त्री के समक्ष 'ज्ञान और विद्या का कोई मूल्य नहीं'। उसके साथ उसका विवाह होना असंभव-सा था ही किंतु प्रेम के लिये कोई बन्धन नहीं होते, वह कोई परिस्थितिएँ नहीं देखता। चन्द्रकला की भावुकता इस सीमा तक बढ़ जाती है कि वह मरणासन्न रजनीकान्त के हाथ से अपने मस्तक पर सिंदूर लगवा लेती है। अपने को विवाहित समझ लेती है। रोमांचक प्रेम भावना-प्रधान ही होता है और सिंदूर की होली में अद्भुत अलौकिकता का प्राधान्य है किंतु वह यथार्थ चित्रण और जीवन से दूर हो गया है। इसमें मिश्रजी की भावुकता कल्पना-सीमा का व्यतिरेक कर गई है। यह उनकी अन्य रचनाओं से

विपरीत है। जहाँ 'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य' में वे प्रेमचन्द के समान घटना-प्रधान रहे हैं और अपनी पर्य्यवेक्षण शक्ति, मनोविकार, अन्तर्द्वन्द्व, आत्मिक-संघर्ष आदि के चित्रण का परिचय देते हैं। वहाँ इसमें विषय एवं भाव-प्रधान रचना लेखक के रूप में आये हैं। उनकी भावुकता की इसमें चरम-सीमा है। नाटकीय दृष्टि से इसी नाटक से उनकी कलात्मकता का उतार प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार 'मनोरमा' के चित्रण का भी हाल है। उसका चरित्र भी विधवा-जीवन से सामंजस्य स्थापित नहीं करता। उसके विचार विधवा स्त्रियों के समष्टि रूप में नहीं माने जा सकते।

'असगरी' (रा० का० मं०) और 'आशादेवी'। (मुक्ति का रहस्य) के चित्रण में एकसा विकार, प्रायः एकसी चारित्रिक कमजोरी, एकसा भाव परिवर्तन और प्राय: एकसा अन्त और अन्तिम परिणाम पाया जाता है। दोनों का चित्रण कौमार्यावस्था से शुरू होता है। एक वेश्या-पुत्री थी, मुसलमान थी, जिसका चरित्र धीरे-धीरे संसर्ग से हिंदुत्वपूर्ण हो गया था और दूसरी एक शिक्षित नवयुवती थी जिसमें पाश्चात्य ढंग का प्रेम-परिणय था। जिसने अपने प्रेमी पर विजय प्राप्त करने के लिये, उससे विवाह करने के लिये उसकी पत्नी को मरवा डाला था। इसमें विष-प्रयोग, उसकी अभिसंधि उसका कपट, उसका अपने इष्ट के प्राप्त्यर्थ डॉक्टर त्रिभुवननाथ से संसर्ग और संयोग का लालच दिखा कर उद्देश्य सिद्धि करना भी पाश्चात्य ही है। अन्त में उसका भी हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वह भी सत्य के समक्ष झुक जाती है। उसका, उसके अन्दर का देवता जाग्रत हो जाता है।

असगरी, आशादेवी

इनके चरित्रों में भी लेखक ने भावुकता का एवं कतिपय अंशों में कल्पना का प्रयोग किया है। यह तो अवश्य है कि साहित्य में कल्पना

और यथार्थता का अधिक संमिश्रण हो जाता है। उनकी सीमा निर्धारित करना कठिन हो जाता है। इसीलिये इनके चित्रण में कल्पना और पात्रो के स्वभाव मे जो भावुकता है वह यथार्थता के निकट है किंतु अलक्षित नही है, यत्र-तत्र प्रकट हो जाती है और चूँकि नाटक का क्षेत्र सीमित होता है, मिश्रजी उसमें कम से कम समय में उसका अभिनय किया जा सके इसी उद्देश्य से लिखते हैं इसलिये उनका चरित्र-चित्रण अधूरा रह जाता है और उसमें व्यापार की कमी और विचार प्रकट करनेवाली प्रणाली रँग आती है। प्रेक्षकों की दृष्टि से इस पर अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिये ताकि उनकी रुचि अभिनय की ओर बनी रहे और प्रदर्शन, अभिनय, विना मस्तिष्क पर जोर दिये ही वे अन्त तक देखते जावें। इसके लिये व्यापारों का आधिक्य और विचार प्रकट करने की कमी अधिक लाभदायक है।

असगरी का रामलाल के घर में रहना असंगत मालूम पड़ता है। उसकी ओर से रामलाल का असावधान रहना भी कुछ जँचता नहीं, किन्तु उसका यौवनोचित चित्रण उचित और स्वाभाविक है। उसके यौवनागमन का प्रभाव जिससे वह अपनी अतृप्ति चाहे जिस अतिथि को भेंट दे देती है रामलाल की वृद्धावस्था और शराब-पान में अधिक व्यस्त रहने के कारण है। उसका रघुनाथ अथवा मुनीश्वर की ओर आकर्षित हो जाना, वेश्या, संस्कार वश नहीं प्रत्युत यौवनागमन का तकाजा है। बाद में जाकर उसमें जो महान् परिवर्तन हो जाता है वह स्वाभाविक और अन्त:प्रवृत्तियों से प्रेरित तो है किंतु उसमें यथोचित विकास का अभाव भी है।

यही बात आशादेवी के चित्रण के समय हो जाती है। वह उमाशंकर को चाहती रहती है। उनके प्रति प्रेम के कारण ही वह उनकी पत्नी की विघातिनी विष पान करानेवाली हो जाती है। इसी के कारण

वह अपना कौमार्यत्व कुप्रसिद्ध और दुश्चरित्र डॉक्टर त्रिभुवननाथ को सौंप देती है किन्तु शर्माजी से विवाह न कर उक्त डॉक्टर से ही विवाह कर लेती है। देखा जाय तो अशगरी से आशादेवी का चरित्र अधिक स्पष्ट, मनोवैज्ञानिक, व्यवस्थित और बाद में आर्य-संस्कृति मय हो उठा है। अशगरी में इतना वैषम्य पाये जाने का कारण उसका मुसलिम होकर हिंदू संस्कृति में ढलना है। दोनों के चरित्रों में यह भी समानता है कि अशगरी रघुनाथ को चाहती हुई मुनीश्वर के सरक्षण में रहना पसद कर लेती है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'आशा' डॉक्टर के साथ। इसका एक कारण मालूम पडता है वह यह कि स्वयं वेश्या होने के कारण इसको सहानुभूति स्वयं वेश्या-सुधार करनेवाली संस्था से स्वाभाविक रूप से हो सकती है। वह सब ओर से-ससार से-उपेक्षित हो चुकी थी।

अशगरी का चरित्र समाज को कटु मालूम होगा यद्यपि अब इस प्रकार का वातावरण साफ होता जा रहा है किंतु आशा देवी के चरित्र में सामाजिक दृष्टि से दोषों के होते हुए भी, विष-पान कराकर प्राण लेने के बावजूद भी स्त्रियोचित करुणा जाग्रत हो जाती है। उसके चरित्र में स्त्रियोचित कमजोरिएँ हैं पर उसका हृदय-देवता सदा जाग्रत रहा। एक बार पथ से गिर जाने का परिणाम उसे भुगतना अवश्य पड़ा किंतु अन्त में उसकी सद्वृत्तियों की देवता की ही विजय हुई।

ललिता धनी शिक्षित कुमारी थी जो भावुकता वश रघुनाथ को कवि रघुनाथ को प्रेम करने लगी। रघुनाथ के उसके प्रेम न पहिचानने और अशगरी से दुर्व्यवहार के कारण वह कुछ भुलाई-सी रही किंतु अन्त में रघुनाथ के प्रति जो हमारी सहानुभूति उसके पिता की संपत्ति के अपहरण द्वारा हो जाती है और हमारे हृदय में एक खटक पैदा हो जाती है उसके निवारण के लिए या उसकी दुःखांतता को सुखांतता में परिवर्तित करने के लिए धनी ललिता का चरित्र इसमें जोड़ा गया है।

'सिंदूर की होली' में डिप्टी कलक्टर मुरारीलाल एवं धनी, कलुषित हृदय और दुष्ट-प्रकृति जमींदार भगवन्तसिंह का चरित्र विशेषरूप से

द्रष्टव्य और विचारणीय हैं। मिश्रजी को इनके चित्रण

कतिपय सफल में कहीं अधिक सफलता मिली है। ये चरित्र वास्तविक

चित्रण जीवन के अधिक निकट हैं। प्रेमचन्द के चरित्रों के समान

देखे-सुने हैं। इसलिए इन चरित्रों के कारण ही मेरी दृष्टि में न कि चन्द्रकला के कारण क्योंकि उसका तो एक अत्यल्प भावुकता और भावनामय चित्रण है यह नाटक मिश्रजी की कृतियों में एक अच्छी कृति माना जाना चाहिए।

डिप्टी कलक्टर मुरारीलाल का पतन सुन्दर कहा जा सकता है। उनकी जिस प्रवृत्ति का चित्रांकण हुआ है, जिस कमजोरी का निदर्शन

हुआ है वे उनमें बीजांकुर रूप में पहिले से ही थे

डिपुटी कलक्टर और उनका चित्रण कर उसके पिछले जीवन से वर्त-

मुरारीलाल मान चरित्र का सामंजस्य स्थापित कर चरित्र की

एकरसता का प्रदर्शन लेखक ने अच्छा किया है।

चरित्र की कमजोरी, लालची प्रवृत्ति ने ही उन्हें अपने घनिष्ट मित्र मनोजशंकर के पिता को नदी में डुबाने के लिए प्रेरित किया। इनका यह चरित्र आगे और भी दृढ हो गया यहाँ तक कि उनका विवेक भी बदल गया। एक अपराध जो वे कर चुके थे उसका प्रायश्चित भी वे दूसरे अन्य पापों का ढेर लगा कर, रिश्वत लेकर, करना चाहते थे।

उनका विवेक मर तो नहीं गया था किन्तु मृतप्राय अवश्य हो गया था। इसीलिए वह बार-बार जाग्रत हो उठता था और उनकी प्रवृत्तिएँ और कमजोरिएँ उसे बलपूर्वक दबा-दबा देती थीं। मनोजशंकर के पिता की हत्या कर वे अब मनोजशंकर को प्रसन्न करना, संतुष्ट रखना चाहते थे। उनका एक स्वार्थ भी था। वे उसे उनकी पुत्री चन्द्रकला के योग्य

वर समझते थे, उससे चन्द्रकला का विवाह करना चाहते थे और उसे आई. सी एस देखना चाहते थे। वे एक गुलाम प्रवृत्ति के मनुष्य थे।

इसीलिए रजनीकान्त का सरल, विनम्र स्वभाव, उन्हें आकर्षित तो कर सका किन्तु रिश्वत लेने से नहीं रोक सका। उसकी हत्या उन्हें विचलित तो कर सकी, विक्षुब्ध भी बना सकी किन्तु परिणाम उसका यह निकला कि उनकी रिश्वत अब दस हजार से चालीस हजार पर पहुँच गई। उसकी हत्या का पुरस्कार उन्हें मिला पचास हजार रजत सिक्कों के रूप में।

उनकी आत्मा और विवेक के मृतप्राय होने का एक प्रमाण यह भी है कि रिश्वत लेते समय उनका तर्क, कर्तव्याकर्तव्य का विचार न कर यह सोचता है कि भगवन्तसिंह एक धनी जमींदार है। पुलिस का मुँह वह कम द्रव्य से ही बन्द कर सकता है। उसकी रियाया उसका विरोध करेगी नहीं। मुकदमा चलेगा तो उसके पर्याप्त सबूत मिलेंगे नहीं और वह बच जायगा। उसका रुपया भी कम खर्च होगा। इसीलिए उसमें जो रुपयों का जहर है वह मैं ही लेकर क्यों न उसे कमजोर बना दूँ। उन्होंने यह नहीं सोचा कि यह जहर उन्हें कैसे पचेगा? वह जहर उनकी आत्मा से ही, चन्द्रकला के वैधव्य स्वीकार करने से, फूट ही पड़ा।

चन्द्रकला की स्वेच्छा से वैधव्य स्वीकृति एक भावना और भावुकता प्रधान अनहोनी घटना अवश्य है किन्तु इसी प्रकार से किसी न किसी रूप में मनुष्य को अपने जीवन में ही प्रायश्चित करना पड़ता है, फल भोगना पड़ता है। यह ध्रुव सत्य है। किसी न किसी प्रकार से पापी के हृदय पर आत्मा पर चोट पहुँचती है यद्यपि कभी-कभी संसार उसे देख सकता है और कभी नहीं।

भगवंतसिंह के टाइप के जमींदारों की भारत में कमी नहीं है। जिस प्रकार की घटना का वर्णन हमें सिंदूर की होली में मिलता है

भगवतसिंह

वैसी प्राय: नित्य ही हुआ करती हैं। इसी प्रकार के षड्यंत्र, इसी प्रकार की रिश्वतखोरी, इसी प्रकार के जाल और मुकदमें बाजी, पारस्परिक झगड़े प्रतिदिन की बातें हैं। भगवतसिंह के सदृश धनी जमींदार यद्यपि अब कम हैं किंतु उसके सदृश कलुषित और दुष्ट हृदय जमींदारों की संख्या अवश्य काफी है। इसी प्रकार के वध भी प्रायः सुने जाते हैं। संबधियो में मन-मुटाव होना और स्वत्वों के लिए विद्वेष का यहाँ तक बढ़ जाना कि एक दूसरे के प्राणों को लेने के लिये उद्यत हो जाना कठिन नहीं।

ये ही बातें भगवंतसिंह में पाई जाती है। ज्यादतियों के द्वारा ही उसने तीन लाख की संपत्ति अर्जित कर ली है। अपने भातृपुत्र का वध कर उसके हिस्से को भी वह हड़पना चाहता है। संपत्ति के लिये अपने प्रिय संबंधी के प्रति जरा भी उसमें दया नहीं। पैसे के बल पर ही उसने अपनी उद्देश्य-सिद्धि करली।

विश्वकांत उन तरुणों में से है जिनमें आग में कूदने, लोहों को चबाने, उच्चतम त्याग करने की आकाँक्षाएँ रहती हैं। जिनमें असह-

अहसयोग आंदोलन की उपज— विश्वकांत मुरलीधर और उमाशंकर

योग आंदोलन ने जीवन, स्फूर्ति, मर मिटने की भावना पैदा की। उसी समय एशियाई संघ की स्थापना के विचार ने यहाँ के वातावरण में एक नन्हीं सी लहर पैदा कर दी थी। उनका दिग्दर्शन हमें विश्वकांत के चरित्र में मिलता है। उस समय एक बात और हुई थी। श्री माखनलाल चतुर्वेदी, श्री गणेश-शंकर विद्यार्थी ऐसे संपादक थे जो तरुणों से उनकी तरुणाई का श्रेष्ठतम का उपहार चाहते थे। वे हमारे तरुणों को भारत के स्वातंत्र्य के लिये तैयार करना चाहते थे। वे चाहते थे ये तरुण, चीन, जापान, अफगानि-

स्तान जावें और भारत की आजादी, एशिया के नव जागरण के लिये सतत प्रयत्नशील हों। इन महान् कार्यों के लिये महान त्यागों की भी अनिवार्य आवश्यकता को वे महसुस करते थे। उस समय उक्त आदर्श संपादक तथा इस प्रकार के अन्य जीवन और जाग्रति के प्रतिरूप संपादकगण तरुणों को प्यार करते थे किंतु उनके चरित्र के प्रति, आचरण के प्रति कठोर दृष्टि रखना भी उनके और देश के लिये आवश्यक समझते थे। इसलिये वे उनसे उनके तरुणोचित जो प्रेम, स्नेह यौन संबधी मनोविकार थे उन पर विजय प्राप्त करवाना चाहते थे। कभी-कभी जब श्रेष्ठतम त्यागशील युवक भी स्वभावतः अपने पथ से जरा खिसकता दिखाई देता तब इन लोगों को हार्दिक दुःख होता था यद्यपि ये भी कई प्रकार के मनोविकारों से ग्रस्त थे किंतु ये चाहते थे कि जो गलतिएँ हम कर चुके हैं वैसी गलतिएँ भारत के तरुण भारत की आजादी के लिये न करें।

विश्वकान्त में हमें इन्हीं तरुणों का और मुरलीधर में ऐसे ही आदर्श सपादकों का प्रतिनिधित्व मिलता है। कॉलेज का युवक, लेखक विश्वकांत संपादक मुरलीधर के द्वारा इन्हीं लाइनों पर शिक्षण प्राप्त कर रहा है। उसमें स्वदेश के प्रति अटल अनुराग, उच्चतम त्याग की प्रबल आकांक्षा है। वह लेखक और कवि है फिर भी तरुण तो है ही। वह मालती को स्वभावतः चाहने लगता है किन्तु जब पिता को यह पता चलता है तो वे बिना कारण ही उससे नाराज हो जाते हैं और विश्वकान्त में इतना साहस नहीं होता कि वह उसकी आज्ञा के विरुद्ध मालती से प्रेम कर सके, विवाह कर सके। ठीक उसी प्रकार जिस तरह मालती अपने पिता से अपने मनोभाव व्यक्त करने में अपने को असमर्थ पाती है और पिता के आग्रह पर विश्वकान्त से कभी न बोलने का वचन दे देती है। यहीं से मालती और विश्वकान्त का अतर्द्वंद्व शुरू होता है।

मालती के पिता प्रयत्न करते हैं कि विश्वकान्त और मालती संबंध सूत्रों में बँध जावें किन्तु विश्वकांत को पिता का डर और मुरलीधरजी से प्रतिज्ञा-बद्ध (अविवाहित रहने की) होने का ख्याल इस सूत्र में फँसने से रोकता है। इधर जब मालती के यहाँ वे मिलते हैं तब मालती का वह भाव अर्थात् विश्वकांत से न बोलने का वचन दृढ़ नहीं रहता। वह विश्वकात से आग्रह करती है कि वे विवाह सूत्र में बँध जावें। विश्वकांत पिघलता हुआ मालूम पड़ता है किंतु जब मालती को उसकी प्रतिज्ञा का हाल मालूम होता है तो वह उसे अपने महत्पद से हटने की सलाह नहीं देती। अपने देवता को वह महान् उद्देश्यों में बाधक बनाना नहीं चाहती। उसके हृदय में इसके लिए दुःख होता है किंतु वह उसे दबाती है। विश्वकांत इस अंतर्द्वंद्व से ऊब कर, घबड़ा कर, इससे बचने के लिए देश से बाहर निकल जाता है। किंतु वहाँ भी मालती को नहीं भुला सकता और जब उसे मालती के विवाह होने का समाचार मिलता है तो एक बार फिर उसमें उसके हृदय का वासना-जन्य तरुणाई का तकाजा जाग्रत हो जाता है। शायद वह अपने को मालती से दूर रख कर दुःख उठाना सह लेता किंतु मालती को किसी अन्य से विवाहित देखना उसे असह्य हो उठता है। यह भावना प्रेमी-प्रेमिकाओं में साधारणतः और स्वभावतः पाई जाती है। विश्वकांत एक बार फिर अपने उद्देश्यों से गिरना चाहता है किंतु मालती उसे बचाती है। रमाशंकर से विवाह कर स्वयं अफगानिस्तान पहुँचती है। जब विवाह हो जाता है तब विश्वकान्त निराश हो जाता है, संयासी हो जाता है।

विश्वकांत में तरुणाई के उक्त दोनों प्रकार के आन्तरिक संघर्षों का एवं एक देश-भक्त त्यागी आदर्श तरुण में जो आकांक्षाएँ और स्वभावजन्यविकार रहते हैं उनका चित्रण भी सफलता से किया गया है।

मुरलीधर में भी यही और इसी प्रकार का आन्तरिक संघर्ष किरणमयी के संबंध में चलता है किंतु उनका चरित्र-चित्रण कुछ अधूरा अवश्य है। युवकोचित जो संघर्ष विश्वकांत में चला है संपादकजी में भी चलता रहा है किंतु अब वे दृढ़ हो गये हैं, सयमित हो सकते हैं, बच सकते हैं। वे किरणमयी को चाहते थे किंतु किरणमयी का विवाह एक वृद्ध के साथ हो जाता है। उनका पूर्व जीवन अस्पष्ट है। या तो वर्तमान घटनाएँ ही लेखक को उठाना चाहिए अथवा वह उन्हें उठाता है तो उन्हें स्पष्ट अंकित करना चाहिए।

किरणमयी से शायद वे मिलन अथवा दर्शन की लालसा से उसके पति के ही शहर में आ जाते है। सम्पादकी करते हैं। देश-भक्त हैं, त्यागी और कष्ट भोगी हैं। आदर्शों और देश-सेवा के लिए अपने जीवन को भी तुच्छ समझते हैं किंतु उनके हृदय में भी एक सरस भाव, उनके मस्तिष्क में भी एक मृदुल स्मृति है। उसे वे नहीं निकाल सकते इसमे मिश्रजी यह एक सत्य चित्रित करना चाहते हैं कि संपादक एक व्यक्ति भी होता है। उसके भी हृदय और भावनाएँ, स्मृतिएँ और मानसिक विकार रहते हैं। रह सकते है। वह उस पर विजय प्राप्त करना चाहता है। करता है। करता रहता है। कतिपय मनोविकारों के होते हुए भी उसके गुण और त्याग अवहेलनीय नही हैं।

पं उमाशंकर शर्मा भी असहयोग आन्दोलन के समय जिन देश की विभूतियों ने महान् त्याग किये थे उनमें से एक हैं। असहयोग आन्दोलन के समय न केवल वकीलों व विद्यार्थियो ने ही कचहरी व स्कूल छोड़े थे किंतु अन्य सरकारी लोगों ने भी जिनमें आई सी. एस. वाले और उक्त शर्माजी सदृश डिपुटी कलक्टर के पद पर आसीन होनेवालों ने भी। प उमाशंकर का चरित्र एक आदर्श, त्यागशील आदर्शों

और सिद्धान्तों पर दृढ़ता से चलनेवाले देश-भक्त के रूप में है जो अपने त्याग का ढिंढोरा नहीं पीटते, अपनी जमींदारी और पद को त्याग देते हैं। त्याग आदर्श के समस्त धन-सम्पत्ति, मोह-ममता, सुख-दुःख सबको एक ओर रख देते हैं। जिनका सिद्धान्त "सादा जीवन और उच्च विचार" है। किसी प्रकार की बाधाएँ जिन्हें कर्तव्य मार्ग से विचलित नहीं करतीं। नारी-मोह जिन पर अपना आधिपत्य जमा नहीं पाता। जो संयमित और दृढ़ चरित्रवाले हैं। अपने सिद्धान्तों और आदर्शों, जन-सेवा के लिए अपनी बुराई होने का भी ख्याल नहीं करते हैं।

पं. उमाशंकर ने डिपुटी कलक्टरी देश के लिए छोड़ दी, जमींदारी छोड़ दी। चेअरमैन चुने जाने के लिए अनुचित तरीकों की तिलांजुलि ही नहीं दी किंतु उसके प्रति और उनके लाभ के लिए जिन्होंने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया उन्हें भी उन्होंने समुचित दण्ड दिया। जैसे टाउन स्कूल के हेडमास्टर जिन्होंने उनके चुनाव में अपना स्कूल सम्बन्धी कर्तव्य पालन नहीं किया था, पण्डितजी के द्वारा हटाये गये। संयम और चरित्र-दृढ़ता उनमें इस सीमा तक पहुँच गई थी कि आशा देवी जिससे वे प्रेम करते थे, जिससे विवाह करना चाहते थे उसका अंग स्पर्श भी कभी वासना या कुभाव से नहीं किया, उसके उन्हीं घर में, एकांत में रहते हुए भी। उनमें देवत्व है, मानवत्व है। जब वे त्रिभुवननाथ का आशा से अनुचित प्रेम का हाल सुनते हैं तब एकाएक उनका पिस्तौल लेकर चल दौड़ना मिश्रजी के पुरुषत्व के प्रदर्शन के लिए, मनुष्य में जो इस प्रकार की एक भावना रहती है उसके चित्रण के लिए अंकित किया गया है। किन्तु उसका विकास, या निदर्शन उचित नहीं बन पड़ा है, अस्वाभाविक हो गया है। मनोवैज्ञानिक तो है किन्तु उसके असली भाव को जैसे चाहिए वैसे रूप में नहीं रख सके हैं।

नवयुवक रजनीकांत (सिंदूर की होली) और बालक मनोहर (मुक्ति का रहस्य) का चरित्र बड़ा ही करुणापूर्ण हो गया है। पहिले की केवल एक झलक ही है। वही इतनी मार्मिक-

मार्मिक एवं करुणा पूर्ण चित्रण

हृदय-स्पर्शी है जो मिश्रजी में करुण-रस की उद्भावना भी इतनी तीव्र हो सकती है इसकी पूर्ण परिचायिका है। मनोहर की करुणा मातृ-वेदना तो जैसे 'मुक्ति के रहस्य' में से चू चू पड़ती है। बालक मनोहर में कहीं-कहीं बाल चित्रण आवश्यकता से अधिक जरूर हो गया है किंतु कहीं वह अस्वाभाविक नहीं हुआ है।

रजनीकांत का मुरारीलाल से "अगर मैं मर गया तो इसके उत्तरदायी हुजूर होंगे" कहना और इस कथन को सत्य में परिणत होना करुणापूर्ण और मार्मिक है। रजनीकांत की मुस्कराहट, उसकी संबंधियों के प्रति समवेदना, सहायता, उसका अपने प्राण जाने का अलिप्त भाव से भय सब सुन्दर बन पड़ा है। अंत में प्राणांत के समय अपने घातकों के नाम नहीं बतलाना उसके हृदय की विशालता सूचित करता है। इस तरुण में न केवल शारीरिक सौंदर्य ही था किंतु आत्मिक भी, जिसके कारण ही, जिसकी भव्यता के कारण ही चंद्रकला उसकी ओर प्रथम दर्शन में ही आकर्षित हो गई थी। ऐसे युवकों अथवा संबंधियों के वध जमींदारियों में पाये जाना दुष्कर नहीं हैं।

इसी प्रकार का करुणापूर्ण चित्र मातृ-वियोगी मनोहर का है। इस बालक के रग-रग में मातृ-वियोग की वेदना व्याप्त हो गई है। उमाशंकर का उसकी ओर कम ध्यान देना, जनोपयोगी कार्यों के लिये उसकी उपेक्षा करते रहना, उसके चचा का उसके प्रति दुराभाव उस बालक में टीस सी पैदा करते रहते हैं। इन्हीं उपेक्षाओं के कारण अपनी मा का ध्यान उससे कभी छूटता नहीं। मातृ-वियोगी, कोमल-

हृदय बालकों में प्रायः बड़ी समझ, बड़ी गंभीरता आ जाती है। मनोहर में भी इसी प्रकार की समझ और गंभीरता फूट फूटकर भरी हुई है। पिता का 'सच बोलने' और माता का 'किसी के सामने हाथ न जोड़ने' के आदर्श उसके हृदय-पटल पर सदा के लिये अंकित हो गये हैं। वास्तव में मनोहर का चित्रण मिश्रजी के बालचरित्र के सूक्ष्म अवलोकन का द्योतक है। मनोहर और आशादेवी के कथोपकथनों में भावों का प्रदर्शन बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है।

मनोजशंकर और रघुनाथ का चरित्र-चित्रण महत्वपूर्ण नहीं। दोनों उस श्रेणी में आते हैं जो क्रमशः मुरारीलाल और मुनीश्वर सदृश व्यक्तियों के लालच, कपट, पाखंड और चालाकियों के शिकार होते हैं। रघुनाथ उन धनी पिताओं के पुत्रों में से है जिनके पिता मुनीश्वर सदृश सुधारक धूर्त लोगों के पक्षों में आकर अपने पुत्रों का भी खयाल नहीं करते। यहाँ तक कि एक पैसा भी अपने पुत्रों के लिये नहीं छोड़ जाते। प्रायः यह तो देखा गया है कि पिता किन्हीं कारणों वश पुत्र को कम संपत्ति देते हैं और अन्य धूर्तों के कारण कई अन्य कार्यों में लगा देते हैं किंतु पुत्र को, संपत्ति होते हुए भी, वंचित कर दें ऐसा नहीं देखा जाता। फिर रघुनाथ सदृश सदाचारी, शिक्षित, कवि या लेखक की चिंता उसके पिता के द्वारा जो काफी विद्वान, समझदार और उसका हित-चिंतक था न हो सकी इसके लिये कोई पर्याप्त मनोवैज्ञानिक कारण नहीं दिखाई देता है। मानव-मनोविज्ञान में इस प्रकार के चरित्रों का मिश्रजी को अनुभव कम है और उन्होंने कल्पना से ही काम लिया है। रघुनाथ का चरित्र भी इन्हीं कारणों से ठीक नहीं बन पड़ा। शायद 'राक्षस का मंदिर' में उनका उद्देश्य केवल अश्गरी के चित्रण एवं महत्व प्रदर्शन से है। इस नाटक में रामलाल, अश्गरी और मुनीश्वर पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है। वास्तव में रघुनाथ जैसे व्यक्ति का चरित्र जिसके साथ

धोखा किया गया, सर्वस्व हरण किया गया कुछ अधिक स्पष्ट और सुप्रबंधित होना चाहिये था।

काशीनाथ (सु० का० र०) भगवतसिंह की ही श्रेणी मे आते हैं। उसी के समान हैं जहाँ तक धन और जमींदारी का, मानापमान का संबंध है। हाँ परिस्थितिएँ उनके लिये ऐसी पैदा नहीं हुईं कि वे किसी का वध करवा सके क्योंकि उमाशंकर तो काफी प्रभावशाली और प्रौढ व्यक्ति थे। उनसे भी जमींदारी उनकी भलमनसाहत से प्राप्त कर लेते हैं। किंतु इनका चरित्र भी स्पष्ट नहीं है क्योंकि उनके मनोभावों से यह ज्ञात नही होता कि उमाशंकर से उन्होंने सारी संम्पत्ति की रजिस्ट्री अपने नाम करवा ली। सदिच्छा से अथवा असदिच्छा से। उनकी बातो से यह पता पडता है या पाठक की यह धारणा बनती है कि वे यह कार्य उमाशंकर की और जमींदारी की भलाई से ही कर रहे हैं और धूर्तता करने का उनका कोई इरादा नहीं है किंतु मनोहर के प्रति उनका व्यवहार उनकी इस सब अच्छाई पर पानी फेर देता है और उनके चित्रण में अधूरापन ला देता है।

असद् पात्र

धनी वकील बेनीमाधव एक स्वार्थी-मित्र है जिसका संबंध केवल अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिये ही है। इसी प्रसंग में इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि ऐसे शिक्षित व्यक्ति भी स्वार्थों की दृष्टि से या कारण से कितने नीचे गिर सकते हैं। अपने विद्वान् मित्र को भी मत न देकर एक अशिक्षित धनी सेठ को अकारण अपना मत दे देते हैं।

मुनीश्वर सदृश धूर्त, आश्रम-पंथी, चारित्र्य से गिरे हुए व्यक्तियों की संख्या इधर कतिपय वर्षों में काफी बढ़ गई है। इन लोगों में चारित्र्य-बल तो रहता नही। हाँ, सूक्ष्म रूप में स्वार्थों के साथ-साथ हिन्दू समाज और अबला स्त्रियों के प्रति कुछ सहानुभूति अवश्य रहती

है। प्रारंभ में उनकी यह सहानुभूति प्रायः सच्ची रहती है किंतु बाद में उसका दुरुपयोग बढ़ जाता है। वे इसके नाम पर आश्रमादि खोलकर अपने स्वार्थों, कभी-कभी वासनाओं की तृप्ति की पूर्ति भी किया करते हैं। इन आश्रम-पंथियों में मुनीश्वर के समान ही अधिकांश व्यक्ति विवाहित भी होते हैं। देश-भक्त और समाज सुधारक, हिंदू-हितों का पक्षपाती होना तो उनके लिये आवश्यक ही होता है। इनमें एक प्रकार की वीरता और प्राण होम देने की आकाँक्षा भी रहती है। किंतु इनका उपयोग जहाँ और जैसा होना चाहिये वहाँ, वैसा नहीं होता। विवाहित होने के कारण, कभी-कभी संतानवान होने के कारण प्रायः जनता द्वारा ये विश्वास पात्र समझ लिये जाते हैं और साधारण लोग ही नहीं बड़े-बडे धनवान, विद्वान, शिक्षित जिन्हें उनके कार्यों को देखने की, दुनिया को देखने की फुरसत नहीं मिलती उनके उच्च आदर्शों, बढ़ी-चढ़ी रिपोर्टों और अधिवेशनों के दिखावों के चक्कर में आ जाते हैं। भीतरी परिस्थितियों की तह तक नहीं पहुँचते। जहाँ ऐसे लोगों का सहयोग, सहायता इन्हें प्राप्त हुई कि फिर इनके पो-बारह हैं। मुनीश्वर ऐसे ही आश्रम-पंथी चालाकों में से है। यद्यपि उसमें कुछ सद्भावना भी होगी किंतु उससे अधिक वासना और स्वार्थ था।

रामलाल और डॉ० विश्वनाथ के चरित्रो में जो बात मिश्रजी व्यक्त करना चाहते हैं उसे वे सफलता से कर सके हैं यद्यपि सामाजिक आचरण और विचारों की दृष्टि से इन्हें लोग अच्छा नहीं कहेंगे। ऐसे पात्रो की सृष्टि शरद्चंद्र के 'चरित्र हीन' में और जैनेन्द्र के 'त्याग पत्र' में भी हुई है। इन पात्रों के द्वारा लेखक मनुष्य के अंदर सदसद प्रवृत्तियों, विवेक संबंधी आधुनिक भावना का चित्रण करना चाहता है।

असत किंतु सफल चित्रण वाले पात्र

रामलाल एक वृद्ध प्रसिद्ध धनी बैरिस्टर है जिसकी मासिक आय दस हजार है। वह शराबी भी है। इसका चरित्र कुछ-कुछ प्रेमचन्द के 'राय साहब' (गोदान) के समान हो गया है। रामलाल ने एक युवती वेश्या रखली है। उसे वे छुटपन में ही ले आये थे। अब वे स्पष्ट रूप से अपने घर में ही रखे हुए हैं। दो वर्ष बाद उस बालिका वेश्या में यौवन के अंकुर जाग्रत होने लगते हैं। उसकी तृप्ति उनसे नहीं हो पाती है। वे अपने को चरित्रवान नहीं समझते बल्कि एक गिरा हुआ पतित समझते हैं। उनका एक नवयुवक पुत्र (रघुनाथ) है जो कवि है, पढ़ा-लिखा है। उनका वासना-ग्रस्त-चित्त अब भी चंचल है। वे उक्त वेश्या को देखते रहना चाहते हैं। इसमें उन्हें मानसिक आनंद आता है। इन्द्रियों की तृप्ति का अनुभव होता है। वे उसे देखते हुए शराब पीना पसंद करते हैं। या तो पाश्चात्य वातावरण ने उन्हे ऐसा बना दिया है अथवा किसी मानसिक आघात के द्वारा उनके चरित्र में शराबी और वेश्यापन घुस आया है, यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। यह उनकी चारित्रिक हीनता है किन्तु उसमें एक देवत्व भी है। कुछ सद्-प्रवृत्तिएँ भी उसमें सजग हैं। यद्यपि राक्षस-प्रवृत्तियों का इस समय उनमें प्राबल्य और प्राधान्य है, किंतु पहिली सद्वृत्ति तो उनकी यही है कि वे जानते हैं कि वे कैसे हैं, यद्यपि उस ओर से मुँह मोड़ने में अपने को सर्वथा असमर्थ पाते हैं। वे यह भी चाहते हैं कि उनके दुराचरण का प्रभाव उनकी संतान पर न पड़े चाहे वे कितने ही गिर जावें, इसलिए जब असगरी युवती हुई, उसमें आचरण संभालने की क्षमता कम हुई तो वे अपने पुत्र रघुनाथ को अपने से अलग रखने का विचार करने लगे। उसे असगरी से अनुचित संबंध और वर्ताव के बहाने अलग कर दिया। यहाँ तक तो उनके चरित्र में कोई विरूपता नहीं आती किंतु उनका उक्त दोषारोपण कर रघुनाथ को बाहर निकालना अनुचित

मालूम होता है। उनका यह तरीका गलत मालूम होता है। उसकी भलाई चाहते हुए भी जानते-बूझते हुए भी पृथक करने का यह तरीका उनका न्याय-संगत नहीं। अत्यधिक शराब ने उनके दिमाग पर बुरा असर किया होगा किंतु रघुनाथ के विरुद्ध मुनीश्वर के झाँसे में आकर अनुभवी, समझदार बैरिस्टर का आश्रम के लिए समस्त संपत्ति दे डालना अनुचित और अस्वाभाविक हो उठा है। इस संबंध में उनकी दिमागी खराबी भी नहीं मालूम पड़ती जब हम यह विचार करते हैं कि संपत्ति को ही बुरा समझने की उनमें बुद्धि थी; उनमें इतनी आत्मश्रद्धा थी कि वे चाकू अपने हाथ में भोंकलें। स्वयं संपत्ति का उपभोग करें किन्तु संतान के लिए कुछ न छोड़ें या और कोई इन्तजाम न कर भाग्य भरोसे छोड़ दें, इसमें मिश्रजी के सूक्ष्मावलोकन की कमी नजर आती है। हमें उनका चरित्र सद्‌मद् वृत्तियों के एकीकरण से अच्छा मालूम पड़ता है क्योंकि मनुष्य में ये दोनों वृत्तिएँ पाई जाती हैं। कभी एक सबल होती है कभी दूसरी और इन्हीं का यथोचित चित्रण रामलाल के चरित्र में हुआ है। केवल अन्त में अन्यपात्रों के द्वारा जो उनके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है वह ठीक अंकित नहीं हुआ। रामलाल का चरित्र, व्यक्तित्व तो मिश्रजी के दिमाग में था किंतु आश्रम को दान देनेवाली घटना में उनकी कल्पना का प्रयोग ही होता हुआ मालूम पड़ता है।

डॉ० त्रिभुवननाथ भी आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता में रंगा हुआ भारतीय दृष्टि से चरित्र हीन व्यक्ति था जिसकी चरित्र-हीनता के लिए प्रसिद्धि थी। चरित्र-हीनता के साथ उसकी दृढ़ता, उसका खरापन, सदिच्छा भी उचित रूप से अंकित हो सकी है। इस डॉक्टर का चित्रण यथोचित हुआ है। धारादेवी को व्यभिचार की दृष्टि से उमाशंकर की पत्नी के मारने के लिए उसका अलिप्त भाव से जहर देना, फिर उससे बिना किसी अच्छे बुरे, सहज स्वभाव से अनुचित सम्बन्ध की आशा करना, आशा के जहर खा

लेने पर उसे बचाना, इस संबंध में इसकी और बेनीमाधव की बात-चीत निडरता से होना, उसकी प्रशंसा करवा ही लेते हैं। चरित्र-हीन होते हुए भी, उमाशंकर की प्रेमिका आशादेवी से अनुचित सम्बन्ध की आशा रखते हुए भी उसका उसके मित्र उमाशंकर की भलाई चाहना और मत के संबंध में बेनीमाधव को सच्ची खरी-खोटी सुनाना भी एक सीमा तक प्रशंसनीय है। ऐसा चरित्र मिश्रजी ने देखा है। उसकी तह तक पहुँचकर उसे टटोला है। इसी से यह उनके सफल-पात्रों में से है।

मिश्रजी की असफल रचनाएं—'राजयोग', 'आधीरात'

'राजयोग' में मिश्रजी सफल नहीं हुए। केवल चम्पा का चित्रण ही ऐसा है जिसमें वे आज के युग की भारतीय नारी-समस्या पर एक कटु व्यग्य, एक तीव्रता, मार्मिकता के साथ एक प्रकाश डाल पाये हैं। उनका उद्देश्य भी इस नाटक में केवल चम्पा का चरित्र-चित्रण करना ही मालूम पड़ता है यद्यपि नाटक के नाम एवं वस्तु को प्रस्तुत करने के ढंग से नरेन्द्र का चित्रण करना उन्हें अभीष्ट है। इसमें न केवल लम्बे संवाद हैं किंतु अस्वाभाविकता भी बहुलांश में आ गई है। भावों की तह तक पहुँचने की शक्ति का परिचय जो अन्य नाटकों में लेखक ने दिया है उसका बहुत कम भाग यहाँ दिखाई देता है। समस्या अथवा मानव जीवन की एक विषमता का चित्रण इसमें मिलता है। प्राय: देखा जाता है कि भारत में मनुष्य का वैवाहिक संबंध बड़े ही विचित्र सिद्धान्तों पर अवलंबित हो गया है। प्रेम-विवाहों के लिये अब कोई स्थान नहीं रह गया है। परिणाम यह हुआ है कि वैवाहिक विषमता अत्यधिक बढ़ गई है। शिक्षित का संबंध अशिक्षित बालिका से, शिक्षित कन्या का पाणि-ग्रहण अशिक्षित अथवा अर्द्ध-शिक्षित व्यक्ति से अथवा धनवान या जमींदार से हो जाता है।

गौरांग को श्यामपति अथवा पत्नी मिलती है और श्याम को ठीक इससे विपरीत। इसी प्रकार गुण, कर्म, स्वभावादि में भी विभिन्नता प्राप्त होती है और विषमता की सृष्टि होती है। हमारे यहाँ की गुण मिलाने-वाली ज्योतिष-प्रथा अब प्रायः लोप होती जा रही है। गुण, कर्म, स्वभाव की विभिन्नता के कारण ने, पुरुष का नारी पर एकाधिकार रखने की भावना एवं उसे तुच्छ और संदेहास्पद समझने के भाव ने नारी पर काफी अन्याय किया है और अब तक किया जा रहा है। अब बड़ी अवस्था में तो विवाह होता है किंतु वह वर-वधू के अनुकूल नहीं। अब समय आ गया है कि उनकी सम्मति भी किन्हीं अंशों में मान्य समझी जावे और उनके स्वतंत्र विचार सुने जावें। उनकी उमंगों, दृष्टिकोणों का प्रभाव अनुभव प्राप्त माता-पिताओं के अनुभव का लाभ उठा कर ही आगे बढ़े। दाम्पत्य-जीवन सुखी हो।

'राजयोग' में इसी एक पहलू पर प्रकाश डाला गया है। चम्पा एक सुशिक्षित ग्रेजुएट लड़की है। सहशिक्षा के कारण कॉलेज में उसका परिचय और प्रेम दीवान रघुवंशसिंह के पुत्र नरेन्द्र से हो जाता है। किन्तु धनी जमींदार राजा शत्रुसूदन पैसे और प्रभाव के बल पर एक पत्नी के होते हुए भी चम्पा से विवाह कर लेते हैं। परिणाम अच्छा नहीं होता। उनमें कभी प्रेम नहीं होता। वे कभी सुखी नहीं होते और न हो सकते थे। इधर इसी कारण नरेन्द्र को भी वैराग्य हो जाता है। वह घर-बार छोड़ कर योगी बन जाता है। कुछ सिद्धिएँ मेस्मेरिजम-विद्या प्राप्त कर लेता है। इधर नरेन्द्र और चम्पा के प्रेम-संबंध के कारण शत्रुसूदन प्रसन्न नहीं थे, इसीलिये वे उसके पिता को वृद्धावस्था का बहाना ढूँढ कर दीवान-पद से पृथक् करना चाहते हैं। इसी समय नरेन्द्र कतिपय सिद्धिएँ प्राप्त कर लौटता है। अपना चमत्कार शत्रुसूदन को दिखाकर उन्हें आकर्षित करता है और अन्त में चम्पा और शत्रुसूदन का

समझौता करवा देता है। समझौता इस आधार पर होता है कि वह एक भारतीय नारी है। हिंदू-लॉ से उनका विवाह हुआ है। वह टूट तो सकता नहीं। शत्रुसूदन के सिवाय उसके लिये अन्य आश्रय भारतीय वातावरण में उचित नहीं हो सकता सिवाय आत्म-घात के। शत्रुसूदन व्यभिचारी-कन्या होने के कारण उसे त्यागना चाहते हैं। उसमें जो नारीत्व है उसकी अवहेलना करना चाहते हैं। नरेन्द्र उन्हें इस भ्रम से हटा नारी के प्रति सहानुभूति रखने के लिये उन्हें समझाता है और यह भी समझाता है कि उसके प्रति उनमें पुरुष-जन्य ईर्ष्या है उसका अवश्य त्याग कर देना चाहिये। दोनों चूँकि सांसारिक प्राणी हैं एक समझौता जो पहिले उनके हृदय और भावों के विरुद्ध था कर लेते हैं और भविष्य-जीवन संचालन करने के लिये तैयार हो जाते हैं।

नाटक की इस कथा-वस्तु के साथ गजराज के जीवन की एक घटना भी संयोजित है जो अन्त में चम्पा और शत्रुसूदन के संघर्ष और मानसिक द्वन्द्व को चरम सीमा पर पहुँचा देती है। चम्पा गजराज के उसकी माता से अनुचित संबंध से पैदा हुई लड़की है। इसीलिये जो शत्रुसूदन उसका पति उसे पहिले प्यार करते रहे और उसके प्यार की आकांक्षा करते रहे वही अब इस घटना को नरेन्द्र द्वारा गजराज पर योगक्रिया से प्रकट करवाने पर क्षुब्ध हो उठते हैं, किंतु इस विषय में भी नरेन्द्र एक प्रकार से चम्पा को निर्दोष कह कर समझौता करवा देता है।

नरेन्द्र की योगक्रिया मेस्मेरेजम ही-सी प्रतीत होती है। इससे स्वाभाविकता की रक्षा तो हुई है इसमें संदेह नहीं किंतु लोक-जीवन पर वह कुछ विशेष प्रभाव नहीं डालती। इससे पात्रों के चरित्र-चित्रण पर कोई असर नहीं पड़ता यद्यपि इस पर तूल अधिक दिया गया है और नामकरण भी इसी के आधार पर किया गया है। नरेन्द्र के चरित्र-चित्रण पर भी इससे कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

गजराज का अनुताप अस्वाभाविक और असफल है। मनोवैज्ञानिक नहीं। इसमें संदेह नहीं इस प्रकार का अनुताप-पश्चाताप मानव-मस्तिष्क में जाग्रत रहता है। उसे अपने किये पर खेद होता है। उसका हृदय किये हुए पाप के कारण कचोटता रहता है। उसकी आत्मा जोकि निर्मल और हलकी रहती है, पाप का जरा भी भार सँभालना नहीं चाहती; उसे फेंकना, बाहर निकालना चाहती है। हमेशा उसके मस्तिष्क में, मानविक प्रवृत्तियों और उनके दबाने की चेष्टा में द्वन्द्व चला करते हैं और जब तक आत्मा पुनः हलकी, निष्कलंक नहीं हो जाती वह पश्चाताप, पाप का भार उसे दबाया ही करता है, दुःखी बनाये रखता है। किंतु यहाँ गजराज का अनुताप एक प्रकार की पहेली बुझौअल-सा है। बड़े ही भोंडे रूप में उसका प्रदर्शन हुआ है। जिस प्रदर्शन के लिये उन्होंने राजयोग की रचना की उसे भी विफल बनानेवाला है। यह प्रकट करता है कि अभी लेखक का इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर अधिकार नहीं, गति नहीं। केवल इसमें एक बात तथ्यपूर्ण है। वह है चंपा के रूप में नारी की विवशता और मूक व्यथा का चित्रण।

नारी क्या है? पुरुष के हाथ की कठपुतली। उसकी विलासभावना का उपकरण। वह मूक नारी सदा हृदय में आग और मुख में मुसकान लिए फिरती है। पुरुष को वश में करना चाहती, उसका प्रेम प्राप्त करना चाहती, फिर भी उसके द्वारा तिरस्कृत, उससे अपरिचित। इसमें इसी भावना का सफलासफल चित्रण है।

'आधीरात' मिश्रजी की दूसरी असफल रचना है जिसमें वे अपने उद्देश्यों से गिरे हुए ज्ञात होते हैं। होना तो यह चाहिए कि लेखक की कला उत्तरोत्तर विकसित होती जावे किंतु वृद्धि के स्थान पर इसमें गंभीरता और दार्शनिकता एक कवि के समान बढ़ गई है जिससे कथोपकथन में कवित्व और कवित्वोचित गांभीर्य तो है किन्तु नाटकीयता

का ह्रास हुआ है। नाटकीय रचनाओं में प्रेक्षक का भी एक प्रमुख स्थान होता है। इसीलिए अभिनय ऐसा होना चाहिए कि उसमें क्रिया कलाप भी हो, हाव-भाव भी हों घटनाएँ भी हों, केवल कोरा कथोपकथन ही न हो और वह भी लंबा, अरुचिकर और विरक्ति पैदा करनेवाला। 'आधीरात' में बहुत कुछ ऐसी ही बातें हैं।

इस पर विचार करते समय हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि कला फोटोग्राफी नहीं है जो सब गुण दोष सहित अंकित कर देती है। कला का काम तो जीवन में अस्पष्ट को स्पष्ट, अलक्षित को दृश्य, परोक्ष को प्रत्यक्ष, आंतरिक को वाह्य, मानसिक और हार्दिक को व्यक्त कर सुचिंतित, सुव्यवस्थित और सुपरिपक्व रूप में रखना है। केवल जैसा का तैसा उगलना नहीं। साथ ही यह तो ध्यान रखना ही होगा कि लेखक उपदेशक न हो। जबर्दस्ती अपने जैसे भी विचार हों उन्हें पाठक या प्रेक्षक पर न लादे। इस रचना में ऐसे ही विचारों को प्रेक्षक पर लादने की चेष्टा की गई है और यदि इसका अभिनय हो तो लबे, कवित्व-पूर्ण विचार-धारा युक्त कथोपकथन अरुचिकर प्रतीत होंगे।

लेखक प्रेतात्माओं में विश्वास रख सकता है। उसके विश्वास और धारणाओं का प्रभाव उसकी रचनाओं में भी आ सकता है, किंतु वह परोक्ष ही श्रेयस्कर है। उन्हें वह प्रेक्षकों पर लादे नहीं। समस्याएँ हों तो समस्याओं के प्रदर्शन के मार्ग भी एक तटस्थ व्यक्ति, लेखक या कलाकार की ओर से आ सकते हैं कितु पुस्तकों की कुंजियों के समान हर एक वस्तु हल की हुई को रचनाओं में स्थान देना स्थायित्व की कमी पैदा करना है। चरित्र-चित्रण इसमें अधूरा है। होना चाहिये पूरा। प्रेक्षक के विचार करने के लिये वस्तु रखी जा सकती है किंतु उसके विचार करने के लिये निश्चित आधार भी होना चाहिये। इनके अभावों में चरित्र-चित्रण अधूरा रहता है और यही उनकी इस कृति में हुआ है।

इस में भी 'राजयोग' के समान जीवन, संपूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति नहीं है। यह पात्रों की कमी के कारण हुआ है। पात्रों की कमी तो एक गुण है। किंतु इससे घटनाओं और चित्रण में अधूरापन नहीं आना चाहिये। वही एक विशिष्ट समुदाय के पात्रों का चित्रण है, वही समस्या है जो भारत के शिक्षित समुदाय में सोची जाती है। दस पच्चीस वर्षों में ही आनेवाली है। किंतु हमें ध्यान रखना चाहिये कि उसके प्रति प्रतिक्रिया भी होने लगी है, जो कि स्वाभाविक है। यह एक प्रसन्नता की बात है कि 'आधीरात' में उस प्रतिक्रिया का भी दिग्दर्शन है।

मिश्रजी ने जो कथावस्तुएँ चुनीं हैं उनका आधार पाश्चात्य है यद्यपि उन्होंने उन्हें भारतीय रंग देने की चेष्टा की है। यह मैं इसलिये कहता हूँ कि जो बातें व्यापक रूप से और कई अंशों में तो अल्प रूप में भी अभी भारतीय समाज में, वातावरण में नहीं आई हैं उन्हें भारतीय आवरण पहिनाकर लेखक ने हमारे सामने रखा है। उसने पाश्चात्य साहित्य का और उसके द्वारा जीवन का जो अध्ययन किया है उसे भारतीय बनाकर हमारे सामने रखा है। इसमें संदेह नहीं पश्चिम के संसर्ग से ये समस्याएँ भी हमारे जीवन को विलोड़ित करेंगी किंतु उनकी अनुभूति लेखक को होना चाहिये। केवल उस प्रभाव का भारतीय करण नहीं। मिश्रजी की रचनाओं में यही मिलता है। यह दोष है। इसमें संदेह नहीं भाषा और भावों को व्यक्त करने की दृष्टि से इस रचना में काफी परिमार्जन, व्यवस्था दिखाई देती है, किन्तु अस्पष्टता, गभीरता भी है।

एक स्थल पर प्रकाशचंद्र, मायावती एवं राघवचरण बोल रहे हैं। उनके साथ ही राघवचरण वृक्ष से जिसमें उसके मित्र की प्रेतात्मा निवास करती है उससे बोल रहा है। यह दृश्य सिनेमा के उपयुक्त तो

हो सकता है और किसी फिल्म में मैने देखा है किंतु मंच पर दिखाना अस्वाभाविक और अरुचिकर होगा।

इसी प्रकार जो नाटकीय संकेत लेखक ने दिये हैं वे भी सिनेमा के अधिक उपयुक्त हैं। सेठ गोविंददास जी में भी यही बात है। हिंदी के ये नाटक लेखक लिखते तो सिनेमा की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर हैं किन्तु उन्हें जनता नाटक समझ कर पढ़े और उनके अभिनय भी किये जा सकें जिनकी संभावना आज कम ही दिखाई देती है इस बात को नहीं भूलते। लिखते सिनेमाओं के लिये हैं और नाटक लेखकों में अपना नाम सुरक्षित रखना चाहते है। सिनेमा-नाटक और नाटकों में भाई-भाई का सा संबंध है। उनकी कलाएँ भगिनियों के सबंध से संयोजित हैं किंतु वे दोनों एक नहीं हैं। उनकी पृथक-पृथक सत्ता और क्षेत्र हैं।

भारतोदय और राष्ट्रीय युग के पश्चात्, साहित्य के क्षेत्र में, प्रेमचंद्र के बाद आज के युग को यदि मैं 'नारीयुग' के नाम से पुकारूँ तो कुछ अनुचित नहीं होगा, क्योंकि हमारे विचारकों, लेखकों और कलाकारों में नारी के प्रति एक प्रचुर मात्रा में व्यापक रूप से कोमल-भावना आ गई है। इसमें अधिकतर तो राष्ट्रीय आंदोलन में स्त्रियों के महत्व के कारण, उनके सच्चे और निर्मल रूप को समझने के कारण है। कुछ अंशों में विलासिता एवं पाश्चात्य नारी आंदोलन को भी इसका श्रेय है। नारी की विवशता और व्यथा का चित्रण युग के अनुरूप इस नाटक-लेखक ने भी बड़ी ही तीव्रता से किया है। न केवल 'सन्यासी' 'राक्षस का मंदिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'सिंदूर की होली' राजयोग मे यही मिलता है किंतु 'आधीरात' मे भीनारी की व्यथाएँ और विवशताओं का ही चित्रण है। पुरुष पात्र तो केवल जहाँ-जहाँ नारी चित्रण के लिये पूर्तियों की जरूरत है वहाँ-वहाँ अपना रूप प्रकट करते हैं। नारी केंद्र है।

पुरुष-पात्र उसकी धुरी के चारों ओर उसी केंद्र के महत्व, साधना, व्यक्ती-करण को प्रकट करने के लिये घूमते रहते हैं।

'आधीरात' में मायावती के लिये ही प्रकाशचंद्र, राघवचरण और राधाचरण की सृष्टि हुई है। मायावती के अतिरिक्त इनका स्वतंत्र न कोई महत्व है, न उपयोगिता।

माया एक शिक्षित, विलायत में पढ़ी लिखी महिला है। उससे दो व्यक्ति-बैरिस्टर प्रेम करने लगते हैं। बहुधा स्त्रियों के संबंध में यही तो होता है। स्त्रियें भी एक साथ दो पुरुषों को प्रेम कर सकती हैं। किंतु यह भावना कम ही देखने में आई है क्योंकि नारी अव्यक्त बहुत रहती है। पाश्चात्य सभ्यता में रंगे हुए उन दोनो प्रेमियों में से एक दूसरे को पिस्तौल का निशाना बनाता है। पहिले को काले पानी का दंड होता है किंतु सम्राट अभिषेकोत्सव के समय छूटकर पाँच वर्षों के बाद लौटता है। उधर दूसरा मर कर प्रेत होता है। माया जो नारी है वह निर्बल और निराधार है। उसे आश्रय और संरक्षण की जरूरत है, क्योंकि चाहे वह कितनी भी आत्मजीवी क्यों न हो, उसमें 'नारीत्व' तो रहता ही है। निर्बलता तो रहती ही है। वह प्रकाशचंद्र को अपना साथी बना लेती है। वह शिक्षित नारी वासना के लिये नहीं, सेवा के लिये। प्रकाशचंद्र उसे ग्रहण कर लेता है क्योंकि वह ऐसी ही नारी शिक्षित स्त्री-चाहता था जो उसके साथ घूम फिर सके। वह कवि था, उसकी कल्पना के समान वह नारी को चाहता था। माया में ये सब गुण थे। इसलिये विवाहित होते हुए भी वह अपनी अपढ़ गँवार स्त्री को छोड़कर माया के प्रेम-पाश में बँध जाना अपने लिये अहितकर नहीं समझता। वह अखबारी कीर्ति चाहता था माया के द्वारा उसे वह प्राप्त हो जाती है। वह भूला हुआ है।

राघवचरण एक तीसरा व्यक्ति है जो माया के प्रति आकर्षित हो जाता है, प्रकाशचन्द्र का मित्र बन जाता है। वह संसारी और सामाजिक प्राणी है। वह चाहता है प्रकाशचंद्र माया की ओर से विरक्त हो जाय और यह नारी-निधि उसके संयोग की वस्तु बन जाय। यह छिपा रुस्तम मित्रता की ओट में प्रकाश को विरक्त करने की चेष्टा में दार्शनिकता और सांसारिकता के उपदेश देकर संलग्न होता है।

इसी समय राधाचरण काले पानी से आ जाता है। उसने माया से विवाह किया था आज भी वह उसके मकान में उसकी संपत्ति का उपभोग कर रही है किंतु अब उसे सामाजिक जीवन की चाह नहीं। प्रकाशचंद्र के प्रति उसे न ईर्ष्या है न क्रोध। मकान तथा सपत्ति भी उसने आते ही माया के पास रहने दी। केवल एक पुस्तक के आधार पर प्रेतात्माओं से संभाषण करने की क्रिया सीख कर अपने मित्र जिसकी उसने हत्या की थी उससे संभाषण करने और उसे संतोष देने लगा।

इस नाटक में माया के द्वारा लेखक एक आदर्श उपस्थित करता है। माया में जो एक आँग्ल शिक्षित महिला है और जो पाश्चात्य सभ्यता में रंग गई थी, निम्न कतिपय घटनाओं की सृष्टि कारण के विरक्ति पैदा हो जाती है। वह देखती है, उसके हृदय में पश्चाताप होता है कि उसके कारण ही उसके दो प्रेमियों का सर्वनाश हुआ यद्यपि उसने क्रियमान होकर हो जीवन की इन विषमताओं में भाग लिया था। इनका कारण वह अपने को ही समझती है। पश्चाताप की दशा में यही होता है। यह आँग्ल शिक्षित नारी अब भारतीयता को उसके समस्त दोषों के साथ अपनाती है। उसमें उसे सुख और सतोष प्राप्त होता है। वह अपना प्रयोग प्रकाशचंद्र पर जो अपरिचित और स्वप्न-प्रेरित ही उसके पास खिच आया था करती है। उसे प्रयोग करना पड़ा क्योंकि वह नारी थी, निर्बल थी, अशिक्षित थी। ऐसी नारी के

लिये पुरुष वर्ग, राक्षस के समान मुँह बाये खड़ा रहता है। विवाहित स्त्री के प्रति जरा वह सोच समझ कर दृष्टि डालता है किंतु निराश्रित, विधवा, अशिक्षित नारी को तो पुरुष अपनी धरोहर ही समझता है। उसका रस चूस कर, उसे पथभ्रष्ट कर, उसका सर्वस्व हरण कर उसे मक्खी के समान दूध से बाहर निकाल कर फेंक देता है। केवल इसी अरक्षित अवस्था से त्राण पाने के लिये राधवशरण भी ऐसे ही शायद पुरुष-पिशाचों में से था जो उस पर दाँत गड़ाये था, जो बिना विवाह किये ही शायद् उसे हड़पना चाहता था उसने प्रकाशचंद्र से पुनर्विवाह किया। पुनर्विवाह किया क्योंकि वह अपनी रक्षा चाहती थी। प्रकाशचंद्र होता या कोई और पुरुष, उसे एक पुरुष की आवश्यकता थी। आवश्यकता थी अब विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिये नहीं, इससे तो वह पहिले ही ऊब गई थी। अब तो उसका उद्देश्य केवल आत्म-रक्षा और सेवा था। उसके विश्वासों में भी अब अन्तर पड़ गया था। विलासिता और पाश्चात्य वातावरण में पली यह नारी अब पुनर्जन्म में, व्रत-विधानों में, उपवासों में, प्रेतों में विश्वास करने लगी थी। पाश्चात्य एक ही जन्म-वाले सिद्धान्त से उसे घृणा हो गई थी। अब उसे जो कुछ भारतीय था उससे प्रेम हो गया था। उसे श्रद्धा हो गई थी। इसीलिये जब प्रकाश सावधान हो गया। उसके पिछले जीवन की घटनाएँ उसे विदित हो गईं तो उसे वह त्यागने लगा। इस अवस्था में उसने एक भारतीय विधवा के समान सुख से अपने को अर्पण करना अच्छा समझा।

नाटक के प्रथम भाग में कला संबंधी विवाद, मध्य में प्रेतात्मा संबधी विश्वास की पुष्टि और अन्त में माया की आत्म-दृढ़ता, निष्कलुषता और आत्म-विसर्जन की भावना है।

इस नाटक में लेखक ने इतिवृत्त कहने की अरोचक प्रणाली को भी ग्रहण किया है। यह पात्रों की कमी के कारण ही हुआ है। घटनाओं

और व्यापार की बेहद कमी है। चरित्र चित्रण अधूरा और अस्पष्ट है। स्व-विचार-सिद्धांत-भार प्रेक्षक पर अनावश्यक लादा गया है।

एक समय जितने समय की घटना होती उसे उतने समय में ही दिखाने की चेष्टा करके स्वाभाविकता की सृष्टि समझी जाती थी। यही प्रणाली आजकल पाश्चात्य साहित्य में भी यत्र-तत्र दिखाई देती है। यही प्रणाली 'आधी रात' में मिश्रजी ने ग्रहण की है। किंतु यह प्रणाली कहाँ तक और किस प्रकार ग्रहण की जाय यह बात विचारणीय है। इसमें एक बड़ा दोष तो यह आ जाता है कि घटनाओं और व्यापारों का स्थान, तर्क, विवाद, सिद्धांतपुष्टि संबंधी कथोपकथन ले लेता है। इतिवृत्तात्मक प्रणाली रंग लाती है और कोरे लंबे कथोपकथन अरुचिकर हो जाते हैं। 'आधी रात' में यही हुआ है।

सेठ गोविन्ददास

आधुनिक नाटक-लेखकों में नाटक के वाह्य उपकरणों का जिन्होंने सतर्कता एवं अनुभव सहित ध्यान दिया है उनमें सेठ गोविंददास का एक प्रमुख और विशेष स्थान होना चाहिए। उनके कथन द्वारा उनकी रचनाएँ कुछ ही दिनों में लिखी हुई कृतिएँ हैं जो पाश्चात्य एवं भारतीय नाट्य-साहित्य के अध्ययन का परिणाम हैं। किन्तु इन पंक्तियों का लेखक उनके इस कथन से पूर्णतया सहमत नहीं है, क्योंकि सेठजी ने नाटकीय वाह्य उपकरण तो पाश्चात्य लिए हैं किंतु पाश्चात्य नाट्य-साहित्य के आन्तरिक स्रोतों, युग की मूल भावनाओं, उनका व्यक्तीकरण, जीवन के प्रति, समाज के प्रति व्यंग्य, सजगता एवं जीवन की निकटता से संपर्क, हार्दिक, मानसिक, आत्मिक, सामाजिक संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व आदि के व्यक्त करने में जैसी सफलता उन्हें मिलना चाहिए वैसी नहीं मिली है। शास्त्रीय या आलोचनात्मक ग्रंथों के अध्ययन की अपेक्षा तद्विषयक नाट्य-साहित्य का अध्ययन उस विषय के कलाकार अथवा लेखक के लिए अधिक आवश्यक है। कदाचित इसीलिए नाट्य-शास्त्रीय टेकनिक का ध्यान रख कर भी वे अपनी रचनाओं में सत्यता से अपने को व्यक्त नहीं कर सके हैं।

सेठजी के नाट्य-उपकरण

सेठजी की रचनाएँ हमारे समक्ष एक गंभीर समस्या भी विचारार्थ उपस्थित करती हैं। वह यह कि चित्रपट और नाटक एक ही वस्तु हैं अथवा भिन्न-भिन्न। ये दोनों कलाएँ जो सगी बहिनें हैं अथवा जुड़ माँ बहिने हैं वास्तव में एक नहीं है और चूँकि इनमें साम्य अत्यधिक एवं

सिनेमा एव अभिनय कलाओं में अन्तर

भिन्नता कम है इनका अन्तर अवश्य एक कलाकार को ध्यान में रखना होगा ।

दोनों कलाओं में चरित्र-चित्रण और हाव भाव की दृष्टि से कोई भेद नहीं है । दोनों अवास्तविक को वास्तविक दिखाने की चेष्टा करती हैं । नट अथवा पात्रों का प्रयोग दोनों में होता है । किन्तु क्षेत्र एवं साधनों की दृष्टि से दोनों में महान अन्तर दिखाई देता है । नाटक का क्षेत्र संकुचित और साधन कम रहते हैं जहाँ चित्रपट के लिए क्षेत्र विस्तृत और कला प्रदर्शन के साधन अनेक रहते हैं यद्यपि इनमें भी कई दृश्य दुरसाध्य अथवा कठिन होते हैं । चित्रपट पर चूँकि उसका क्षेत्र विस्तृत रहता है सब प्रकार के दृश्य जो संभव हों तथा कतिपय मानव की सत्यसृष्टि में जो असंभव हों दिखाये जा सकते हैं किन्तु स्टेज पर कतिपय विशिष्ट दृश्य दिखाना ही संभव हो सकता है और वे भी केवल पर्दों अथवा सकुचित क्षेत्र में अन्य उपकरणों के प्रबन्ध द्वारा । इसीलिए अभिनय कला की सफलता के लिए प्राचीन समय से अब तक बंधनों और सीमाओं की सृष्टि हुई और इस कला पर कई प्रकार के अंकुश लगाये गये ताकि जो नहीं है, वह है ऐसा दिखाई दे सके । चित्रपट में भी कई प्रकार की कठिनाइएँ हैं और विभिन्न प्रकार की कला-कुशलताओं की अनिवार्य आवश्यकता होती है किन्तु क्षेत्र विस्तृत होने से इस कला के द्वारा दिखाना जो अभीष्ट होता है वह दिखाया जा सकता है किन्तु रंग-मंच पर कितनी भी कुशलता के द्वारा कई प्रसंग कई दृश्य ऐसे रह ही जाते हैं जो दिखाये नहीं जा सकते । फिर उन दृश्यों के प्रबंध के लिए चित्रपट में समय भी असीमित रहता है । स्वतंत्रता से समयानुसार, फोटोग्राफी आदि की कला की सहायता द्वारा समय के व्यवधान से भी कई दृश्य और प्रकरण दिखाये जा सकते हैं किन्तु रंग-मंच पर इनका दिखाना दुस्साध्य, प्रायः असंभव रहता है । चित्रपट में सामग्री,

समय और सुविधानुसार जमा कर मिला ली जा सकती है किन्तु रंग-मंच पर चूँकि समय कम रहता है यदि वही सामग्री दृश्यों के प्रदर्शन के लिए जमाई जावे तो समय अधिक लगे अथवा कथोपकथन या दृश्यों को अत्यधिक बढ़ाना पड़ेगा। इन्हीं कारणों से दोनों कलाओं की कथा-वस्तु के उद्गम एक ही स्थान से होने पर भी एक थोड़ी ही दूरी से वे भिन्न-भिन्न होती चली जाती हैं, सिंधु और ब्रह्मपुत्र के समान। एक अरब सागर में गिरती है तो दूसरी बंगोपसागर में। अन्तिम ध्येय भी दोनों का एक ही रहता है। प्रारम्भ तथा अन्त एक तथा मध्य भिन्न रहता है यद्यपि कहीं-कहीं ये कलाएँ एक दूसरी से मिलती हुई नजर आती हैं।

'तीन-नाटक'-कतिपय दोष

जब इन दृष्टियों से हम 'तीन नाटकों' पर विचार करते हैं तब हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि सेठजी की रचनाओं में नाटकीय तत्वों की अपेक्षा सिनेमा के तत्वों का अधिक प्रयोग हुआ है एवं सिनेमा की परिस्थितियों, क्षेत्रों एवं समय का ध्यान रखकर एवं इसी आदर्श एवं इनके ही अवलोकन पर 'तीन नाटकों' की सृष्टि की गई है। दृश्यों का संघटन, कथावस्तु का प्रवाह, प्रारंभ और अंत प्रायः सिनेमा की ही आवश्यकताओं के अधिक उपयुक्त हैं। इसी प्रकार से नाटकों के पात्रों, रंगमंच एवं ड्रेस तथा अन्य उपकरणों के लिये जो संकेत हैं उनमे भी सिनेमा का ही दृष्टिकोण प्रतीत होता है। उनका 'कर्तव्य' या तो 'सीता' चित्रपट की छाया है अथवा 'सीता' चित्रपट 'कर्तव्य' के आधार पर लिया गया सा प्रतीत होता है। दोनों की कथावस्तुएँ, पात्र, भूकंपादि के दृश्य, रास्ते में यात्रियों के वार्त्तालाप प्रायः समान हैं। इसी प्रकार से "प्रकाश" का प्रथम दृश्य भी एक चित्रपट के आधार पर अथवा वह चित्रपट 'प्रकाश' के आधार पर तैयार किया गया

है। इसी प्रकार अन्य कई दृश्यों में एवं उनके प्रबंधों में सिनेमा-कला अधिक दृष्टिगोचर होती है। अतः हमे ध्यान रखना ही होगा कि इन दोनों कलाओं में विशेष कर कथावस्तु के मूल एवं चरित्र-चित्रण में साम्य होते हुए भी ये दोनों एक नहीं, पृथक-पृथक हैं। दोनों की आवश्यकताएँ किन्हीं अंशों में एक और किन्ही में भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा ज्ञात होता है दोनों स्थानों पर प्रयुक्त किये जा सके इसलिये सेठजी ने इन नाटकों का यह रूप दिया है। इन दृष्टियों से उनका 'हर्ष' इन तीन नाटकों में सर्व श्रेष्ठ है। उसमें 'प्रसाद' का अनुकरण है किंतु दुरुहता नहीं। प्रसाद द्वारा निर्मित एवं प्रयुक्त शब्द-प्रयोग है किंतु उनकी भाषा नहीं। 'प्रसाद' के कण हैं किंतु गंभीरता नहीं, इसलिये वह अभिनय योग्य नाटकों की श्रेणी मे आ जाता है।

जितनी शीघ्रता से ये नाटक लिखे गये हैं उतनी शीघ्रता इनमें न की जानी चाहिये थी ताकि कथावस्तु का प्रयोग एवं प्रबंध योग्य और समुचित हो सकता। इसीलिये कहीं-कहीं लेखक की कला हीनता का परिचय स्पष्ट रूप से न केवल समालोचकों को किंतु साधारण पाठकों एवं प्रेक्षकों को भी हो जाता है। विशेष रूप से उनके यात्रियों एवं राहगीरों के कथोपकथन जो स्पष्ट रूप से कथावस्तु की पूर्त्यर्थ प्रयुक्त हुए हैं और सब नाटकों में, कथा-पूर्ति के मेरी दृष्टि में सबसे सरल एवं निकृष्ट साधन हैं और कलाकार की महत्ता को बढ़ाने वाले नहीं।

सेठजी के नाटकों से एक बात पर और हमारा ध्यान जाता है जो कि उपन्यास और नाटकों में अन्तर प्रकट करने वाली है। उपन्यासों मे नाटकीय तत्वों का प्रयोग होते हुए भी उनमें इतिवृत्त, पूर्वकथन, लंबे वार्तालाप, लंबे दृश्य अथवा अध्याय हो सकते हैं किन्तु नाटक में इन सब बातों का प्रायः सर्वथा अभाव होना चाहिये। प्रेक्षक रंग मंच पर हजारों वर्ष पहिले की घटनाओं को भी ऐसा देखना चाहता है कि वे

उसके समक्ष इसी समय हो रही है। नाटक का मुख्य उद्देश्य भी यही है कि जो हो चुका है उसे वर्तमान कर दे। नाटकों मे भूत और भविष्य की जरा भी गुंजाइश नहीं। वह तो वर्तमान से ही ओत-प्रोत होना चाहिये। यही उसकी विशेषता एवं उत्कृष्टता है। इससे वंचित होकर वह अपने मुख्य उद्देश्य से भी दूर फिंका जाता है। सेठजी की रचनाओं में भूत प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। पात्र भूत की ही अधिक चर्चा करते हैं। बल्कि यह कहना चाहिये कि वे वार्तालाप करने के स्थान पर पूर्व-घटित घटनाओं का कथन करके ही कथा वस्तु को आगे बढ़ाया करते हैं। वे इतिवृत्त कहते हैं। पात्रों को यह न कर वर्तमान घटनाओं में ही सक्रिय रहना चाहिये। यही रंगमंच के लिये उपयुक्ततम एक साधन तथा उपाय है। चित्रपट-कला के भारत में अभी एक सीमा तक ही उन्नत होने के कारण उसमें यह दोष आगया है और यही दोष सेठजी की रचनाओं में भी उतर आया है। यदि नाटक-लेखन में सेठजी ने अधिक समय दिया होता और मनन पूर्वक अधिक अवकाश दिया होता, केवल एक ही ओर लक्ष्य रख कर, तो हमारा ख्याल है सेठजी से ये त्रुटिएँ कम होतीं क्योंकि सेठजी की प्रतिभा में हमारा पूर्ण विश्वास है और हम यह भी जानते हैं कि उनका अधिकांश प्रयोग मानव-हितार्थ राजनीति में हुआ है। भविष्य में उनके लिये इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

सेठजी ने 'कर्तव्य' को दो खण्डों में विभाजित किया है। प्रथम खंड में उनका उद्देश्य राम के आधुनिकतम चित्रण का है। द्वितीय में कृष्ण

'कर्तव्य'

के चित्रण का इनके लिखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे नाटक के क्षेत्र में इन दो महापुरुषों के सम्बन्ध में परमात्मीय भावना किस प्रकार जनता में प्राप्त हुई एवं किस प्रकार शनैः-शनैः वे परमात्मा कहे जाने लगे यह प्रकट करना चाहते हैं। साथ ही परमात्मीय पूर्ण भक्ति इन महापुरुषों में होते हुए भी, उनका

उतना ही आदर करते हुए भी वे उन्हें महापुरुष ही चित्रित कर उनके मानवीय महत्व प्रकट करना चाहते हैं और इन्हीं उद्देश्यों को लेकर भारत के इन दो अप्रतिम व्यक्तियों का उन्होंने चित्रण किया है। इसीलिये उन्होंने उनके प्रचलित तथा प्रसिद्ध और विवादास्पद दोषों को उनमें मान कर उन दोषों के लिये स्पष्टीकरण करने की चेष्टा की है और जो भारतीय वातावरण में इस प्रकार की विचारधारा फैल और बढ़ रही थी उसका साहित्यिक रूप उन्होंने दिया है। किंतु राम के चरित्र-चित्रण में लेखक जितना सफल हुआ है और अपने को व्यक्त तथा स्पष्ट कर पाया है उतना कृष्ण के चित्रण में नहीं। अब तक के भारतीय-साहित्य का यह एक महान् दोष रहा है कि उसमें कृष्ण से महापुरुष का जिसका महत्व प्राचीन काल से राम की अपेक्षा अधिक समझा गया, जिसकी श्रेष्ठता सोलह कलाओं अर्थात् पूर्ण कलाओं से युक्त मानकर की गई और जो समस्त भारतीय पुरुषों मे अद्वितीय महापुरुष मान लिया गया यथातथ्य और उसके अनुरूप जो उसके उतने ही महत्व को पूर्णरूप से व्यक्त कर सके ऐसा चित्रण, कुछ एक सीमा तक गीता, सूर-काव्य आदि को छोड़ कर, कहीं भी सफलता से नहीं हो सका है। यही बात कर्तव्य के द्वितीय खण्ड में भी हुई है। राम के समान कृष्ण का चरित्र महत्, सफल, स्पष्ट और पूर्ण व्यक्त नहीं हो पाया है।

इसका कारण कदाचित राम के चरित्र की विशेषता हो। राम का चरित्र आदर्श है। भावना-प्रधान दुनियाँ अपने दोषों को न देखते हुए, उन दोषों को स्वीकार न करते हुए, उन्हे स्वाभाविक और सहज न समझते हुए आदर्श की ही पूजा करती है किन्तु वही उन आदर्शों में मानव-कल्याण के लिये यदि कतिपय अंगों एवं अंशों में च्युति पाती है तो वह उसे सह्य करने के लिये तैयार नहीं होती है। आज भी कतिपय दोषों से युक्त हम सद्गुणों के पुञ्ज (म० गाँधी)

की अवहेलना कर रहे हैं। इसलिये राम के आदर्श चरित्र का जिसने चित्रण करना चाहा वह स्वयं ही सफल होता गया है और प्रतिभाशाली महासाहित्यकारों ने तो उन्हें अलौकिक रूप ही दे दिया किंतु कृष्ण के चरित्र की महत्ता प्रकट करना एक मनस्वी, अप्रतिम, मेधावी का काम है। वह अब तक मेरी क्षुद्र-दृष्टि में पूर्ण नहीं हुआ है।

कर्तव्य का पूर्वार्द्ध बड़े ही सुन्दर और सुव्यवस्थित ढंग से हुआ है। राज्यारोहण के प्रथम की एवं कर्तव्य भार ग्रहण करने के लिये रामकी चिंता एवं उनका जानकी से वार्तालाप बड़ा ही सरस है। ताड़का-बध संबन्धी उनकी आत्मिक-ग्लानि भी राम के योग्य है। राम मर्यादा-पुरुषोत्तम थे फिर भी उनसे कतिपय ऐसे कार्य हुए है जो साधारण और लोक-दृष्टि से समर्थनीय नहीं कहे जा सकते। ताड़का-स्त्री-वध यद्यपि गुरु सम्मत था किन्तु उनके हृदय के एवं लोक के विरुद्ध भी था। इसी प्रकार बालि के वध के लिये उन्हें दोष दिया जाता है। उसके लिये भी राम को बड़ा संकोच हुआ किन्तु लक्ष्मण की प्रेरणा, सुग्रीव की प्राण-हानि एवं उससे सीता प्राप्ति-अर्थ अपनी की हुई प्रतिज्ञा की रक्षा करने के हेतु बड़ी हिचकिचाहट से उन्होंने बालि का वध किया। शायद कटु आवश्यकता वश ही ये दोनों वध उनके द्वारा हो सके। इन दोनों वधों में मर्यादा का भङ्ग कर सीता के प्रति, केवल पत्नी सीता के प्रति वे लोक को न ठुकरा सके, उस नारी के प्रति कोई न्याय वे न कर सके व दिखला सके। इस युग के माँग की यह कमी 'कर्तव्य' में भी अखरती है। सीता के प्रति तो राम के द्वारा इस नाटक में अन्याय ही हुआ है ऐसा कहा जा सकता है। राम सीता से प्रेम करते हैं, संभव है वह सच्चा और हार्दिक भी हो किन्तु वह प्रेम केवल उनकी वाणी से ही प्रकट होता है, आचार से नहीं। बराबर वे ये प्रकट करते रहे हैं कि सीता को वे प्राणों से प्यारा समझते हैं और अन्त

में उसके भूसात् हो जाने पर उनकी विह्वलता सच्ची विह्वलता है किंतु उनके आन्तरिक प्रेम का यथा साध्य चित्रण या स्पष्टीकरण नहीं प्राप्त होता है। बन-बन में सीता के प्रति भटकनेवाली बात बहुत पुरानी और मार्मिकता को पूर्ण रूप से व्यक्त करने में असमर्थ हो गई है। राम ने रावण-विजय इसलिये नहीं कि सीता के प्रति उनमें अनन्य प्रेम था। रावण विजय तो उनका मनुष्य का अहकार था। मनुष्यपन था। ताड़का-वध और बालि-वध के समय की उनकी मर्यादा भंग, सीता के सम्बन्ध में कर्तव्य बन जाता है। उन्होंने सीता का उद्धार केवल कर्तव्य प्रेरणा अथवा मर्यादा-रक्षा के लिये किया। उस सीता पर जिसने स्वप्न में भी राम के अतिरिक्त किसी की ओर दृष्टि नहीं की। राम भी जिसका हृदयतल से विश्वास करते हों उसके प्रति यह कहना "ठहरो मैथिलि, ठहरो, तुम पत्नी के नाते मेरा स्पर्श करने योग्य नही हो।" उनका अक्षम्य अपराध है जिसका जवाब राम के पास कुछ नहीं। लोक के सामने लोकाचरण करके भी सीता के प्रति पत्नी-कर्तव्य नहीं तो एक स्त्री के प्रति कर्तव्य का पालन तो राम सदृश मर्यादा पुरुषोत्तम से करवाना उचित था। इस पर लंका-दहन के पश्चात्, रावण-विजय के पश्चात्, सीतोद्धार के पश्चात्, सीता के उनके समक्ष आ जाने के पश्चात् उनका अपने घोर अन्याय का परिचय जन-समूह के सामने इस प्रकार देना, "बधुओ! जानकी का रावण से उद्धार करना मेरा कर्तव्य था, यदि मैं यह न करता तो कायर कहलाता, सूर्यवंश के निर्मल आकाश में मैं धूमकेतु के समान हो जाता; अधर्म की धर्म पर जय होती और अन्याय की न्याय पर। मैंने आप लोगों की सहायता से अपने कर्तव्य का पालन कर दिया, सूर्यवंश की प्रतिष्ठा रह गई, पर पर-गृह में रही हुई स्त्री का चाहे वह मुझे प्राणों से प्रिय क्यों न हो, ग्रहण करना मेरे लिये सम्भव नही है; यह धर्म की मर्यादा-भङ्ग की अन्तिम सीमा है। मनुष्य की

विडंबना है, छल है। सीता को पत्नी न कह 'स्त्री' कहना घोर अन्याय है।

इसी प्रकार लेखक ने अग्नि-परीक्षा को 'आधुनिकतम' रूप देने की चेष्टा की है। इस प्रसंग को वह छोड़ सकता था किंतु उसने अग्नि-परीक्षा के लिये सीता के उद्यत होने को ही राम द्वारा अग्नि-परीक्षा की समाप्ति करवा कर आगे के लिये सीता के प्रति अन्याय के अङ्कुर छोड़ दिये हैं। सीता पुनः निर्वासित होती है। पुनः रामाश्रय में वाल्मीकि ऋषि के आग्रह पर आना चाहती है यद्यपि उसका हृदय इसके लिये जरा भी तैयार नहीं, उसकी आत्मा उसे उसके लिये कचोटती है फिर भी सीता जाती है। राम द्वारा लोक-मर्यादा की बलिवेदी पर भेंट की जाती है। अग्नि-परीक्षा के लिये प्रस्तुत होती है। किंतु भूकम्प की सृष्टि कर एवं उसके साधन पहिले ही से इकट्ठे कर लेखक ने सामयिकता, सुरुचि एवं कलात्मकता की सुन्दरता, श्रेष्ठता और यथार्थता से रक्षा की है। इसीलिये 'कर्तव्य' के पूर्वार्द्ध का आदि और अन्त बड़ा ही अच्छा बन पड़ा है। मध्य इनके अन्दर सुन्दरता से जड़ा हुआ है और सीता के प्रति किये गये घोर अन्याय के मध्य राम का सतत मानसिक दुःख एवं 'कर्तव्य' के लिये घोर आत्म-तपस्या उनके निर्मल चरित्र एवं प्रेम को गन्दा नहीं होने देती है।

इसमें संदेह नहीं भाषा और भावों की दृष्टि से 'कर्तव्य' के उत्तरार्द्ध में वही सरसता, वही वाग्वैदग्ध्य एक उसी प्रकार का प्रवाह पाया जाता है, किंतु ११ वर्ष के बालक कृष्ण से, उसे साधारण मानव-संतान ही मानकर, उच्च एवं प्रौढ़ विचारों का बुलवाना अवश्य अस्वाभाविक लगता है यद्यपि अरोचक नहीं; सरस और गंभीर है। अन्तिम दृश्य का कृष्ण का कथन अवश्य मार्मिकता, दार्शनिकता एवं परमात्मा की तटस्थ-वृत्ति का परिचायक है। और है एक महापुरुष की मृत्यु होने के प्रथम का संदेश।

किंतु समस्त मध्य भाग में कृष्ण का चरित्र वैसा नहीं निखर पाया है, न भव्य हो सका है जैसा कि लेखक चाहता है अथवा सोचता था। उसका उद्देश्य तो कृष्ण को ऐसे मानव के रूप में दिखाने का है जिसने साधारण होते हुए भी असाधारणता प्राप्त की। प्रारंभ में कम ध्यान दिये जाने के पश्चात् अन्त में जो राम के सदृश ही पूज्य, अवतार एवं महापुरुष हो सका। उसकी कतिपय त्रुटियों से मानव-कल्याण, राजनीतिज्ञता अथवा कोई विशेष उद्देश्य प्रकट नहीं होता। कला तो वास्तव में परोक्ष रह कर ही अपना प्रभाव पैदा करती है किंतु लेखक की कला इसमें बार-बार अपना उद्देश्य प्रकट कर देती है और वह भी नाटकीय वृत्ति के विरुद्ध इतिवृत्त के रूप में जो सर्वथा अवांछनीय होना चाहिये। कृष्ण का वह लोक-संग्रही और लोक-रक्षक रूप भी नहीं दिखाई देता जिसे लेखक प्रकट करना चाहता है। कृष्ण का जरासिंध से युद्ध में युद्ध-क्षेत्र के बीच से पलायन ऐतिहासिक होते हुए भी कलात्मक, सुन्दर अथवा दार्शनिक अथवा मानव-कल्याण प्रेरित पूर्ण रूप से नहीं हो पाया है। इसी प्रकार रुक्मिणि-हरण, द्रौपदी-हरण में कृष्ण की सहायता एवं कुमारिकाओं को भौमासुर का बध कर मुक्ति कर उनसे उद्धार कर विवाह करना, ये प्रसंग भी साधारण घटनाएँ, प्रसंग अथवा सुधार-वृत्तिएँ हैं और उस कोटि पर नहीं पहुँचती हैं जहाँ हम उन्हें साहित्यिक कह सकें। उनमें भाव श्रवणता की काफी कमी है। कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को युद्ध में प्रेरित करने का उनका उपदेश उस महत्व को प्रकट करने में असमर्थ है जिसकी मार्मिकता एवं दार्शनिकता हमें गीता में दृष्टिगोचर होती है।

कृष्ण का चरित्र-चित्रण करते समय अयोध्यासिंह उपाध्याय के पश्चात् सेठजी का चित्रांकण बड़ा सरस, यथोचित, विदग्ध और हृदय-ग्राही हुआ है। भोली राधा जो कृष्ण के लौकिक, शारीरिक रूप पर लुब्ध

हुई, जिसने शनैः-शनैः हृदयार्पण कर दिया उसका भोलापन, भावों की सादगी, उसका कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम दृष्टव्य है। धीरे-धीरे वह प्रेम-कांचन वियोगाग्नि में दग्ध होते हुए निखरने लगता है। यहाँ तक वह उसका वाह्य-रूप देखने में भी सर्वथा असमर्थ हो जाती है, अनाणी बन जाती है। केवल आत्मा ही आत्मा की भक्ति, प्रेम वह देख पाती है। आत्मा का आत्मा में परमात्मा में एकाकार हो जाता है। वह विश्व में विश्वात्मा के दर्शन करती है। उसका कृष्ण उसके अणु-अणु में दिखाई देता है।

तीन नाटकों के पदों के संबंध में उन्होंने जो विचार प्रकट किये हैं उनसे ज्ञात होता है वे उन्ही के होना चाहिए किंतु इससे मेरा मत-भेद है। स्पष्टतया ये सूर एवं तुलसी के पद हैं अथवा छाया हैं और जिनका कोई निर्देश लेखक की ओर से किसी भी रूप में हमें नहीं मिलता।

'हर्ष' और 'प्रकाश' में लेखक की विशिष्ट प्रतिभा का परिचय मिलता है। प्राचीन आख्यानों एवं अति विश्रुत चरित्रों को लेकर जिस प्रतिभा ने अपना कार्य प्रारम्भ किया था वही 'हर्ष' में पुष्ट और 'प्रकाश' में स्पष्ट हो गई है। भाषा, शैली, वस्तु-विन्यास की दृष्टि से इन नाटकों में कोई अन्तर नहीं है बल्कि वे ही बातें उसी प्रकार, उतने ही अच्छे, मँजे रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। कतिपय समान दोषों के होते हुए भी 'प्रकाश' उत्तमतर और 'हर्ष' उनका सर्वश्रेष्ठ नाटक है।

प्रकाश और 'हर्ष'

'हर्ष' को 'प्रसाद' का आधुनिक, व्यवहारोपयोगी अभिनय योग्य नाटक कह सकते हैं। उसमें 'प्रसाद' के शब्दों का चयन कहने का ढंग वही है भाषा का रूप भी उसी प्रकार का है, किंतु है वह सरल; जिसे प्रेक्षक सरलता से समझ सकें और हृदयंगम कर सकें। जो प्रभाव लेखक

प्रदर्शित करना चाहता है, जो प्रभाव वह उन पर छोड़ना चाहता है उससे वह युक्त है। कहीं शिथिलता नहीं, कहीं दुरूहता नहीं। समरसता और प्रवाह समान रूप से प्राप्त होते हैं। 'हर्ष' के द्वारा सेठजी 'प्रसाद' के समकक्ष पहुँचने का दावा कर सकते हैं। इसमें 'प्रसाद' की त्रुटियों का बड़े ही सुन्दर ढंग से निराकरण हुआ है। फिर भी भाव-सौंदर्य में किसी प्रकार की कमी नहीं आयी है। 'प्रसाद' की कृतियों के समान ही भाव और शैली में 'हर्ष' एक सुन्दर अमर कृति है। 'प्रसाद' का सफल एवं सुन्दरतम अथवा श्रेष्ठतम अनुकरण है। उनकी कृतियों का विकास है। वह कृति है जिसे कि हम 'प्रसाद' पढ़ते समय आकांक्षा करते हैं। 'प्रसाद' में जो हम देखना चाहते थे, सेठजी ने वही हमें 'हर्ष' के रूप में दिया है। इसके साथ ही वह अभिनय एवं सिनेमा के योग्य भी बनाया गया है। यह उसकी एक अन्य विशेषता है। इसमें सन्देह नहीं एकादि स्थल पर इसमें अस्वाभाविकता आ गयी है किंतु वह इतनी कम है कि साहित्य के क्षेत्र में अलक्षित ही रहेगी।

'प्रकाश' उनका राजनीतिक नाटक है। इस प्रकार के नाटकों की आवश्यकता है और विशेषकर सिनेमाओं के लिये जिनमें जनता की अभिरुचि ऐसी ही आधुनिक कथावस्तु को देखने के लिये उत्कंठित रहती है। 'प्रकाश' को पढ़ते समय हमारा ध्यान लक्ष्मीनारायण मिश्र के गुण दोषों पर भी जाता है। मिश्रजी ने आधुनिक कथावस्तु को ग्रहण कर भावों में उत्तेजना, प्रवणता तिक्तता, शक्ति उत्पन्न कर दी है। उनमें सृजन-क्रियात्मकता बड़े ही प्रबल रूप में है। उनके नाटकों में अभिनय योग्यता अत्यधिक मात्रा में प्राप्त होती है। उनके पात्र, उनका चरित्र-चित्रण पाश्चात्य एवं नवीन ढंग पर है, है किंतु भारतीय। पात्र कम और समस्याएँ अधिक है। हृदय-द्वंद्वों की कशमकश अति स्वाभाविक, मस्तिष्क

'प्रकाश'

एवं विचार-धारा को मथन एवं विक्षुब्ध करनेवाली है किंतु भाषा, भाव-प्रकाश एवं वस्तु-विन्यास की दृष्टि से मिश्रजी सर्वथा असफल हुए हैं। उनकी सामग्री अपरिपक्व मस्तिष्क की उपज है। सुचिंतित नहीं है। एक अविवेकी युवक की तीव्र विचारधारा है जो सत्य और सदुद्देश्य समन्वित है किंतु जिसने अभी प्रौढ़ता प्राप्त नहीं की है। उसने वह वस्तु अभी मस्तिष्क पर बराबर जमाई नहीं है। उसने जो प्रभाव, जो विचार जो द्वन्द्व, जो विलोड़न विश्व से प्राप्त किये अथवा उसके मस्तिष्क में उद्भव हुए उन्हें उसने उसी सत्य के रूप में देने की चेष्टा की है। यह साहित्य-सृजन की प्राथमिक अवस्था का दिग्दर्शन है। प्रौढ़ता का नहीं। विकास का प्रारंभ है। साहित्य में सूक्ष्म रूप से हम यह चाहते भी हैं कि हमें लेखक अपने अनुभवों का विश्व से सामंजस्य, नवीन समस्याओं का उद्भव ही न दे, उन पर उसकी सुचिंतित, सुव्यवस्थित सम्मति भी दे। प्रत्यक्ष रूप से नहीं, परोक्षरूप से। मिश्रजी में इनका अभाव और सेठजी में इनका प्रादुर्भाव पाया जाता है। सेठ जी ने भी 'प्रकाश' के चिंतन, व्यवस्था, प्रौढ़ता एवं सुपरिपक्वता के लिये बहुत कम समय दिया है। साहित्य के क्षेत्र में कोई लेखक यह कह कर नहीं छूट सकता कि उसे कम समय मिला इसलिये वह ऐसा लिख सका। कोई चिंता नहीं वह थोड़ा या कम लिखे। कौन नहीं जानता कि गुलेरी जी की 'उसने कहा था' नाम की एक ही कहानी कहानी-साहित्य की एक अमर चीज है जिसमें समस्त कहानी गत विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

'प्रकाश' के अंतर्गत प्रकाश का चरित्र जैसा चाहिये वैसा नहीं हो सका यद्यपि वह नाटक का प्रधान पात्र है। उसका चित्रांकण घटना प्रधान हो गया है। यही नहीं वह अस्वाभाविक भी हो गया है तथा अस्पष्ट भी। युवक से नेता बन जाना एक समय अवश्य सरल हो गया था। यह

बात सत्य है किंतु उसका चरित्र तथा घटनाओं का समन्वय ऐसा होना आवश्यक था जिससे उसके चरित्र पर विशेष प्रकाश पड़ता। वह प्रथम उच्छृङ्खलसा ग्रामीण नवयुवक था। धीरे-धीरे कतिपय उसकी विचारधाराओं एव जन-पक्ष की हित-कामना ने उसे नेता बना दिया। उसमें युवकोचित अपूर्ण गंभीरता है अथवा गम्भीरता और उत्तर-दायित्व का चित्रण बराबर नहीं हो पाया है। इसी प्रकार उसके तथा तारा के चरित्रों में लेखक मातृ-पुत्र-प्रेम को चित्रित करना चाहता है किंतु वह भी अस्वाभाविक हो गया है। प्रकाश के चरित्र को विशिष्ट रूप से चित्रित करनेवाले तीन दृश्य हैं। एक तो वह जब वह प्रीति-भोज में ही व्याख्यान देने लगता है और गवर्नर से समर्थन पाता है। बाच में दो लम्बे दृश्य और हैं जहाँ माता-पुत्र की बात-चोत होती है। ये अरोचक और इतिवृत्तात्मक हो गये हैं। नाटकीय घटनाओं के तीव्र प्रवाह के योग्य नहीं। यहाँ अस्वाभाविकता आ गई है। माता का पुत्र-प्रेम ऐसी वस्तु नहीं जिसे वह कह-कह कर प्रकट करे। कहने से उसका महत्व, गुरुता कम हो जाती है। वह न कहा हुआ ही दिखाना अच्छा और कलात्मक होता है। क्रिया-कलापों से दिखाना उचित है। इन्दु उर्फ तारा का चरित्र भी कुछ तो प्रकाश-सा ही अस्वाभाविक है किंतु बाद में वह मातोचित हो गया है। विशद पुत्र प्रेम तथा आत्म-गौरव का परिचायक है। प्रकाश के पकड़े जाने की सूचना पर उसका मातृत्व तिलमिला उठता है। राजा अजयसिंह के यहाँ जिन्हें वह छोड़ चुकी थी आत्म-गौरव रक्षणार्थ पहुँचती है। रानी कल्याणी से, क्योंकि वह भी नारी थी, अपने वर्षों के छिपाये हुए रहस्य को खोल देती है। प्रकाश और तारा के चरित्रों मे माता और पुत्र के प्रेम को चित्रित करने के लिए ऐसी ही घटनाओं की आवश्यकता थी।

इसी प्रकार सर भगवानदास और लेडी लक्ष्मी के चरित्रों के दो पहलू हैं। एक अच्छा और दूसरा वही अस्वाभाविक। सर भगवानदास मारवाडी और लेडी लक्ष्मी पूर्विया सी मालूम पड़ते हैं। इन दोनों का गठ-बन्धन बड़ा भौंडा है। लेडी लक्ष्मी पुरवैया भाषा बोलती है; इससे तो कोई नुकसान नहीं किंतु उससे सर भगवानदास का पुरवैया में न बोल कर साधारण हिंदी अथवा मारवाड़ी मे बोलना चाहे वे तुतलाती बोली ही में क्यों नहीं बोलते हों संगत नहीं। पात्रों में विषमता तो उचित है किंतु वह यहाँ भौंडी हो गई है।

दूसरा पहलू बड़ा ही सुन्दर हो गया है। इन पात्रों की नाट्य-कथा वस्तु के साथ सृष्टि कर लेखक ने उच्च कोटि का साहित्यिक हास्य पाठकों को दिया है जो आदर्श है। इस प्रकार का हास्य हिंदी नाट्य-साहित्य में इतनी सुन्दरता से कहीं प्रयुक्त नहीं हुआ है। यह सेठजी की प्रतिभा का एक अच्छा उदाहरण है।

इन पात्रों के अतिरिक्त अन्य पात्रों का चित्रण यथातथ्य है। कथा-वस्तु एवं पात्रों के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सेठजी यहाँ प्रेमचन्द के समकक्ष पहुँच जाते हैं। घटनाओं का सृजन कर प्रेमचन्द जिस प्रकार आधुनिक चरित्रों का जैसा का तैसा चित्र खींच देते हैं और हमें यह ज्ञात होने लगता है कि ये सब पात्र हमारे परिचित हैं, देखे-सुने हैं, वैसे ही सेठजी के 'प्रकाश' के पात्रों का हाल है अथवा इस प्रकार के सब चरित्र हमारे परिचित-से मिले-भेंटे स ज्ञात होते है। सब पात्र सच्चे और घटनाएँ अकल्पित ज्ञात होती हैं। कला की यही विशेषता है। ये सेठजी की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय देती हैं।

राजा अजयसिंह एक बिगड़े रईस हैं। सम्पत्ति का अधिकांश क्षय हो गया है किंतु रईसी की पुरानी भावना और तदनुरूप खर्च अब भी

बना हुआ है। जानते-बूझते हुए भी अवनति के मार्ग पर फिसलते जा रहे हैं। अपनी बात, शान व शौकत रखने के लिये धन-व्यय करना अपना कर्तव्य समझते हैं। अधिकांश जमींदारों की यही तो वास्तविक स्थिति है। रानी कल्याणी के समझाने पर भी जमींदारी का मोह नहीं त्यागा जाता। उधर रानी कल्याणी है, जो हिन्दू नारी का प्रतीक है। जमींदारी त्याग कर भी शान्त जीवन का पक्ष ग्रहण करती है। हिन्दू आदर्शों की कायल है। राजा अजयसिंह के हृदय में प्रकाश के प्रति पुत्र-प्रेम उमड़ता है किंतु वे प्रमाणों के अभाव में उसे प्यार नहीं कर सकते और जब ज्ञात हो जाता है कि वह उनका ही पुत्र है तब उसको प्यार करना पार्थिव दृष्टि से असंभव हो जाता है। उनकी ही झूठी दरख्वास्त पर वह बन्दी बनाया जाता है। उन्हें ज्ञात होता है कि वह उसका पुत्र है तब जब कि वह बन्दी हो जाता है और उसे छुड़ाना उनके हाथ की बात नहीं रह जाती। यद्यपि उनकी झूठी दरख्वास्त उनसे बल पूर्वक दिलाई जाती है। साधारणतया वे आधुनिक जमींदारों के समान ही दुर्बल हृदय हैं, चारों ओर से जकड़े हुए हैं।

सर भगवानदास एक धनसम्पन्न, लोभी व्यापारी हैं जिनका सर्वस्व धन के अतिरिक्त कुछ नहीं। अन्य बातें उनके लिए गौण हैं। अपने पुत्र के प्रयत्न से अयोग्य होते हुए भी, तोतली जबान के होते हुए भी, केवल सम्पत्ति के कारण 'सर' की पदवी पाते हैं। विलायत यात्रा के विरोधी हैं किंतु उससे जब धन सम्मान मिलता है तो उन्हें कोई एतराज नहीं। भारतीय आदर्श चाहते हैं। पुराने फैशन की पोशाक पसन्द करते हैं किंतु यदि कोट-पेंट से साहब लोगों, सरकारी अफसरों से यदि अपना काम निकाला जा सकता है तो उन्हें इसमें भी कोई आपत्ति नहीं। इन्हीं कारणों से वे पुत्र के आज्ञाकारी, अनुचर और अनुगामी हैं। लेडी लक्ष्मी जो पुराने ढंग की एक पुरबिया सी है, लड़ाकू है और उन्हें

यत्रतत्र, मौके-बे-मौके खरी-खोटी सुना देती है, का उनसे संबंध करवा कर लेखक ने सुन्दरता से हास्य का ही दिग्दर्शन नहीं कराया है किंतु इस प्रकार भारतीय घरों में जहाँ प्राच्य-पाश्चात्य का सम्मेलन हो रहा है, इसी प्रकार की विषमता रहती है, इसका यथार्थ चित्रण किया है।

सर भगवानदास का पुत्र मि. दामोदरदास गुप्ता एक विलायत भ्रमण किया हुआ चलतापुर्जा युवक है जिसमें पाश्चात्य कूटनीति, उसी प्रकार का व्यवहार उसी प्रकार की कार्य-प्रणाली कूट कूट कर भरी हुई है। अच्छे या बुरे किसी भी प्रकार से धन प्राप्त करना उसका लक्ष्य है जैसा कि यथार्थ में कई धन-प्रिय मनुष्यों का रहता है। उसकी पत्नी रुक्मिणी के आग्रह पर वह अनुचित रूप से राजा अजयसिंह से 'हाथ जोड़ कर क्षमा-याचना' करवाता है। प्रकाश को बिना किसी इल्जाम के कैद करवाता है।

माननीय धनपाल ऐसे मिनिस्टरों के प्रतीक हैं जो वर्तमान काँग्रेस-शासन एवं अनुशासन के प्रथम काँग्रेस के टिकिट पर धारा-सभाओं में घुसे और वहाँ पहुँच काँग्रेस को धोखा देकर, सरकार से मिल कर मौज मारने लगे और जनता को भुलावे में रखने के लिये खादी-पोशाक नहीं छोड़ी।

पंडित विश्वनाथ और मौलाना शहीदबख्श ऐसे स्वार्थी, बनावटी नेता हैं जो हिंदू-मुस्लिम हितो के नाम पर अपना स्वार्थ-साधन किया करते हैं। जनता की भावनाओं को उभाड़ कर अपना काम बनाया करते हैं। जिनका काम कौंसिलों एवं म्यूनिसपैल्टियों में स्वार्थ-वश मिलकर चाटना-खाना और बाहर जनता की सिर फुटौवल का आनन्द उठाना है।

'हिंदुस्थान'-पत्र का संपादक, कन्हैयालाल वर्मा, एक परिस्थितियों से लाचार संपादक है। किसी समय, उसमें भी देश के प्रति,

न्याय और नीति के प्रति प्रेम रहा होगा; सदुद्देश्यों, सत्कार्यों आदर्शों से प्रेम रहा होगा किंतु समय ने उसे सिखा दिया कि भाई समय देख कर अपना रुख रखा करो। जिस जनता के लिये तुम काम करते हो वह तुम्हारे महत्व को नहीं समझती है। 'भेंड़नि की धसनि' है। अपनी बात बनाते हुए अपना पेट चलाते रहो।

डॉक्टर नेसफील्ड एक धूर्त बैरिस्टर है। पाश्चात्य नीति, धन को प्यार करनेवाला। सदाचार का वह कायल नहीं। भतीजी मिस थेरिजा का उपयोग, उसके नारीत्व का उपयोग वह धन प्राप्ति के लिये करने में कोई हानि नहीं देखता। यदि उसके नारीत्व से धनपति मि. दामोदर दास गुप्ता उसके संकेतों पर चल सकते हैं, उनसे उसे धन की प्राप्ति हो सकती है तो उसे किसी प्रकार का एतराज ही नहीं है। वह तो थेरिजा से नारीत्व के नाम उसे अपने चंगुल में फँसाये रखने की चेष्टा करता है। मिस थेरिजा भी अपने काका के अनुरूप है क्योंकि जिस वातावरण में वह पली है उसमें इस बात के अतिरिक्त अन्य भावना और संस्कार आ ही नहीं सकते थे। इन्हीं संस्कारों के कारण वह मिस होते हुए भी विवाहित दामोदरदास गुप्ता की अंक-शायिनी भी हो गई।

मनोरमा और सुशीला दो सखियें हैं। सुशीला का स्थान मनोरमा के चित्रण के लिये ही है। मनोरमा का प्रकाश से प्रथम-दर्शन-परिचय हो जाता है। इस अवस्था में जो प्रेमांकुर नव-युवक-युवतियों में उठा करते हैं वही अंकुर उसमें भी जाग्रत स्वाभाविक रूप से हो गये हैं। किंतु उसके यौवनोचित्त प्रेम की धारा बड़ी ही निर्मल और आदर्श रूप में अंत तक बहती रही है, वह बढ़ती और फैलती रही है; दृढ़ होती है किंतु उसमे वासना का लेश तक नहीं आया। इसका कारण उसका भारतीयता, 'प्रकाश' के सिद्धांतों और, आदर्शों से प्रेम तथा समान विचार ही थे।

सेठजी का 'हर्ष' एक सुन्दर कला-कृति है और इसमें उनकी अब तक की प्रतिभा का पूर्ण परिपाक हुआ है। यह एक सुचिंतित रचना है।

'हर्ष' इसमें भाषा का वही मध्य-प्रांतीय सौंदर्य, मधुरता, कहने का ढंग है। वही एक रस, सतत एकसा बहनेवाला प्रवाह है जो 'कर्तव्य' और 'प्रकाश' में है। इसमें ऐतिहासिक भारतीय गौरव की रक्षा करनेवाली सामग्री का सुप्रबंध, आदर्श और कल्पना का हितकर प्रयोग समीचीन ही हुआ है। इसके चरित्र ही भव्य नहीं हैं किंतु उनकी भव्यता में, उन्हें उस रूप में रखने का श्रेय लेखक को भी है। 'हर्ष' केवल ऐसा ऐतिहासिक नाटक नहीं है जिसमें कोरा इतिहास ही इतिहास हो अथवा इतिहास साहित्य से सम्बन्धित न हो। ऐतिहासिक होते हुए भी यह आधुनिकता और आधुनिक राजनीति एवं परिस्थिति का ज्ञापक है। इसमें 'प्रसाद' सी पृष्ठ भूमि है किंतु अभिनय-योग्यता के लिये जितनी कम गंभीरता की जरूरत होना चाहिये उतनी ही इसमें प्राप्त होती है और वाह्य उपकरणों का यथायोग्य प्रदर्शन तो सिनेमा के लिये भी सर्वथा उतना ही उपयुक्त है जितना स्टेज के लिये। प्रसाद' के समान पात्रों की पदवियें हैं अवश्य किंतु 'प्रसाद' में हम जितने दोष अभिनय की दृष्टि से पाते हैं उनका निराकरण इसमें भली भाँति हुआ है। इतिहास प्रसिद्ध उचित घटनाओं का सङ्कलन है। राजनीतिक चालों और उथल-पुथलों, एकतंत्र शासन एवं प्रजातंत्र शासन, सार्वभौमिकता अथवा चक्रवर्तित्व का सिद्धांत एवं 'भारत एक और अखंड है' इस भावना की विशद व्याख्या एवं इसके लिये सतत प्रयत्न, ब्राह्मणों एवं बौद्धों का संघर्ष, उस काल की एव आधुनिक काल की मूल भावनाओं का मंजुल सामञ्जस्य इस कृति में बड़े ही विशद एवं स्पष्ट रूप से हुआ है। कहीं शिथिलता नहीं, कहीं इसी लेखक के अन्य नाटकों के समान इतिवृत्त कहने की प्रणाली नहीं और उतने

ही भौंडे रूप में यात्रियों अथवा 'पहला', 'दूसरा', 'तीसरा', 'चौथा' आदि का कथा पूर्त्यर्थ संभाषण भी इसमें नहीं है। कथावस्तु व्यवस्थित, पात्रों का चरित्र सुधारा हुआ अथवा सँवारा हुआ, घटनाओं का संकलन समीचीन हुआ है। नाटक ऐतिहासिक होता हुआ भी आधुनिक अथवा राष्ट्रों की नीति एवं राजनीति पर एवं आदर्श नरेशों एवं राष्ट्रों के सद-सद् प्रयत्नों पर भी समुचित प्रकाश डालता है। हर्ष वर्द्धन और माधव गुप्त की आदर्श मित्रता का सुन्दरतम दिग्दर्शन इसमें हमें दिखाई देता है जो न्याय की भावना का प्रबल पोषक है।

हर्ष इस नाटक का प्रधान पात्र है। वह एक ऐतिहासिक व्यक्ति है। उसका झुकाव स्वात्म-प्रेरणा एवं अपने मित्र माधव गुप्त के प्रभाव के कारण बौद्धधर्म की ओर है। वह ससार और सिंहासन से विरक्त है, निर्मोह है किंतु आवश्यकता एवं कर्तव्य तथा उसके मित्र की प्रेरणा एवं परिस्थितियों की पुकार उसे राज्य-सूत्र ग्रहण करने के लिये बाध्य कर देती हैं। वह राज्य-सूत्र इसलिये ग्रहण नहीं करता है कि मान सम्मान चक्रवर्तित्व प्राप्त कर दूसरों पर अपनी प्रभुता का सिक्का जमावे किंतु उसका आदर्श भारत में भारतीय-संस्कृति की रक्षा, भारत को सांस्कृतिक एवं राजनैतिक दृष्टि से एक सूत्र में पिरोना है। समस्त भारत में साम्य-स्थापना करना है। जन समूह को अधिक से अधिक सुख पहुँचाने का है। स्त्रीत्व के आदर्श को ऊँचा करने का एवं स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा करने का है। युद्ध उसे इसलिये प्रिय नहीं कि उसके साम्राज्य में विस्तृत लंबा-चौड़ा भू-भाग आजाये किंतु इसलिये कि भारतीय एकता एवं केंद्रीय-शासन की सुदृढ़ता के लिये वे आवश्यक थे। वह वीर भी है किंतु उसकी वीरता अनुचित बल प्रयोग के लिये नहीं, निर्बल राष्ट्रों को दबाने के लिये नहीं, उनकी समृद्धि के लिये है। सब धर्मों के अनुयायियों को सर्वस्व दान कर वह त्याग एवं धार्मिक एकता का उच्चतम आदर्श

हमारे सामने रखता है। फिर भी हम देखते हैं कि उसके सद्प्रयत्नों का इच्छित अथवा जैसा चाहिये वैसा फल नहीं निकलता और स्वार्थ एवं धार्मिक उन्माद के कारण वे पूर्ण सफल नहीं होते। हर्ष के प्रयत्न के रूप में लेखक ने हमारे मस्तिष्कों को, विचारकों एवं राजनैतिक नेताओं के मस्तिष्कों को विचारने के लिये समस्याएँ रखीं हैं। जो आज भी उतनी ही पेंचीली, विकट और प्रखर बनी हुई हैं। उसका सर्वस्व त्याग भी जन समूह के एक भाग को सतुष्ट करने में असमर्थ रहता है जैसा कि आजकल कॉंग्रेस के साथ हो रहा है। आज भी केंद्रीय शासन को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न जारी है किंतु सफलता एक दूर की वस्तु दिखाई दे रही है। ये समस्याएँ प्राचीन काल से चली आ रही हैं। केंद्रीय शासन के निर्बल होते ही प्रांतीयता का जोर बढ़ जाता है जो भारतीयता के लिये कभी हित कर नहीं हुआ और न होगा। आदित्य को जो उसके प्राणों का ग्राहक था, क्षमाकर, क्षमाशीलता का भी श्रेष्ठ उदाहरण हर्ष हमारे सामने रखता है। जीवन भर अविवाहित रह कर अपने चारित्र्य को नितांत निर्दोष निष्कलंक रखना उसके आत्म-संयम एवं शक्ति का परिचायक है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से दूसरा स्थान गुप्त-वंशी माधव गुप्त का है। वह हर्ष का मित्र, सहायक और मस्तिष्क है। इसमें संदेह नहीं गुप्तवंश के अवशेष और ह्रास पर वर्द्धन वंश ने अपनी सत्ता स्थापित की एवं हर्ष ने अपना साम्राज्य स्थापित किया किंतु विचारशील, सहृदय, न्याय पक्ष के समर्थक एवं हर्ष का सच्चा हितेच्छु माधव का हृदय हर्ष के प्रति निष्कपट रहा। उसमें द्वेष का अभाव रहा बल्कि इसके स्थान पर प्रेम, और उसकी कल्याण-कामना ही सर्वोपरि रही वास्तव में माधव गुप्त का चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल अंकित किया गया है। हर्ष के अतिरिक्त किसी का भी उस पर विश्वास नहीं। हर्ष के लिये

प्राणार्पण करने की इच्छा होते हुए वह हमेशा हर्ष के अतिरिक्त अन्य लोगों के द्वारा सदेह की दृष्टि से देखा गया। ऐसी अवस्था में एक महान् आत्मा, एक कर्मठ मनस्वी के अतिरिक्त और कौन अपनी नौका सफलता, विद्वत्ता, लगन और अपने मित्र की हित कामना सहित खे सकता है? माधव ने इन्हीं परिस्थितियों में अपना पथ आगे बढ़ाया, हर्ष को अपना कर्तव्य सुझाया, उसकी प्राण-रक्षा की। उसके प्रति कर्तव्य पालन के समक्ष अपने पुत्र के प्राणों को भी तुच्छ समझा। उसको सद् एवं सामयिक सम्मति देकर हर्ष के महत्व को चमकाया।

हर्ष से उसका प्रेम इसलिये नहीं रहा कि वह एक राजपुत्र एवं सम्राट् था अथवा उसका उससे कोई स्वार्थ था किन्तु इसलिये कि वह उसका बालसखा था और उससे उसे सच्चा प्रेम था; हर्ष में उसे महानता के गुण दिखाई देते थे और वह चाहता था कि उसकी महानता बढ़े, विकसे और भारत-कल्याणकारी हो। ऐतिहासिक दृष्टि से हर्ष महान् और माधव अपरिचित है किंतु सेठजी की लेखनी द्वारा उसका चरित्र विशद और अमर बन सका है। महापुरुषों की महानता ऐसे ही सहयोगियों की सहायता पर निर्भर रहती है। ऐसे ही कर्मठ अनुयायियों की सेवाओं, साधनाओं और लगनों से उन्हें सफलता मिलती है यद्यपि प्राण और प्रेरणा ऐसी महान् आत्माएँ ही दिया करती हैं।

राज्यश्री के विवाह का चित्रण करना लेखक का उद्देश्य नहीं उसका चित्रण केवल हर्ष के संपर्क से ही आवश्यक था। उसके चित्रण से हर्ष की स्त्री संबंधी भावना व्यक्त होती है एवं उसके महान् त्याग का परिचय मिलता है। इसी प्रकार चीनी यात्री ह्वेनसांग का चरित्र भी प्रासंगिक है। अन्य चरित्र भी हर्ष के चरित्र-चित्रण, एवं उसके विश्लेषण के लिए एवं तत्कालीन परिस्थितियों के निदर्शन के लिये उपयुक्त रूप से प्रयोग

में आये हैं। इनमें शशांक और आदित्य के चरित्र नाटक, संघर्ष, विरोध-पक्ष आदि की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

शशांक ब्राह्मणों का पक्ष ग्रहण कर बौद्ध धर्म का विरोधी गुप्त वंशी राजा है। वह इसी विद्वेष भावनावश एवं अपने वंश एवं राज्य की वृद्धि के लिये तथा गुप्तवंश की पूर्व स्थिति, और समृद्धि के लिये राज्यवर्द्धन का वध करता, हर्ष का कपट-पूर्ण हृदय से आधिपत्य स्वीकार करता और अन्त में उसका विरोध करता है। बोधिवृक्ष कटवाता एवं हर्ष वध का षड्यन्त्र रचता है। इसी के समान आदित्य सेन भी जो माधव का पुत्र है अपने पिता से घृणा करने लगता है, गुप्तवंश के पुनर्स्थापन एवं समृद्धि के स्वप्न देखता है और हर्ष विरोधी पक्ष को ग्रहण करता है।